

विषयसूची—

(१)—सूत्रशास्त्र (दृष्टिबिज्ञानात्मक)

१७६

(२)—प्रयासशास्त्र (अस्तुविज्ञानात्मक)

२०३

प्रारम्भिक निवेदन

माननीय महोदय ।

लगभग ३ वर्ष के अनन्तर 'शतपथ-विज्ञानभाष्य' (त्रैमासिक) सेवा में उपस्थित हो रहा हूँ । जैसा कि, 'शतपथसूचनापत्र' में निश्चय कर दिया गया था— 'शतपथ के पञ्चमवर्ष का आरम्भ भाष्य पूर्णमा, यि सं १६६६ से हुआ था । पञ्चमवर्षीय उस प्रथम त्रैमासिक अष्ट के अनन्तर कार्तिक पूर्णिमा १६६ का क्रम प्राप्त पञ्चमवर्षीय २ अष्ट प्रकाशित हुआ । अनन्तर कई एक समस्याओं के कारण यह प्रकाशन अवलम्बित हो गया । अत्र परिगणित नवीन सहयोगियों की प्रेरणा से आरिचनशुक्ल पूर्णिमा वि० सं० २००३ से शतपथ का पुनः प्रकाशन आरम्भ हुआ है । बापिक-अवस्था की अनुकूलता के लिए प्रस्तुत अष्ट ४ वर्ष का ३ अष्ट मान लिया गया है । जो महातुमाव पूर्वप्रकाशित पञ्चमवर्षीय दोनों (१, २) अष्टों के साथ प्रादक बनना चाहें, उन्हें प्रस्तुत उन दोनों अष्टों के साथ प्रस्तुत ३ वें वर्ष के १ अष्ट आर प्राप्त हो सकेंगे । एवं जो प्रस्तुत अष्ट में ही प्रादक बनेंगे, उन्हें इस अष्ट के साथ अगल तीन अष्ट प्राप्त हो सकेंगे । जैसा आदरा प्राप्त होगा, व्यवस्था हो जायगी । इसी अपनी धारणा से प्रादक बनने वालों को पञ्चमवर्षीय दोनों पूर्व-अष्ट-भी गंगान चाहिए, तिन का मुख्य ४) २ है । गत २ अष्ट, एवं पञ्चमवर्षीय दोनों अष्टों का पापिकशुक्ल ७) है, दाकृत्यय प्रयत्न है ।

हमें विश्वास है अनुपादक महोदय अपना सहयोग प्रदान कर आपसंगति के गणेश में प्रयत्नशील बनने का अनुपम करेंगे—

विनम्र—

मन्नादक

शतपथ

अध्याय २]

जयपुर, आरिवनगुप्त-पूर्णिमा २००३

[भाग ३]

वेदसूक्तिसंस्मरणम्

‘अपिचित्वाऽपिचितुपश्चिदत्र कवीन् पृ षामि विप्रने न विद्वान् ।

वि यस्तस्तुभ्य पठिमा रक्षाभ्यस्तस्य रूप किमपि स्थिदेकम् ॥’

—सूक्तसंहिता १ मं० । १६४ सू० । ६ मन्त्र ।

“अपिचित्वा (अर्ह), अत्र, पितृ, पिहितुपः, कवीन्, विप्रान्, पृष्यामि न, विद्वान् । यः प्रपद इमा (ति), रक्षासि वि, तस्तस्य, अस्तस्य रूप, किम्, अपि, स्थिम् एकम्” (इत्यन्वयः)

स्वयं इस विषय में काह जानकारी न रखता हुआ (मैं) इस विषय में जानकारी रखन वाला (जानकारों) कवियों से (इसविषय में) जानकारी प्राप्त करने के लिए (प्रस्तुत स्थिति में) पूछ रहा हूँ । (क्यों कि मैं स्वयं इस स्थिति का) छाता नहीं हूँ । (प्रश्न होता यह है कि) जिस ने इन ६ रसों (स्तोत्रों) को (अपने नियन्त्रणपारा में आवद्ध कर अध्यापन) स्तब्ध कर रक्खा है, (उस) अक्ष (अपि) मारी तस्य) के स्वल्प के सम्बन्ध में (उसका उभ) किसी (दुर्विज्ञाय) एक (भाव) का (ही मैं) मानना चाहता हूँ) । (इति सूत्रानुपात्तः)

उर्ध्वमूल अवाकशास मनागन अरपण्यहृत्तमूर्ति, महामायावर्षिष्ठ्र मात्री मातृवर के इस म्शरीररूप अश्वत्थगृह की एक महम् (१ ७०) पश्चा (रहनियों) मानी गइ हैं । प्रत्येक पश्चा एक एक स्वतन्त्र विश्व है, जिसका संपालक महारवर से सम्पन्न रहता हुआ ‘उपरवर’ कहलाया है । उपरवर के शासन में अनुरामित प्रायेक पश्चा में स्वयम्भू परमष्ठा, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, य

पौष पौष पुण्डरी (पर्ष-पोर) हैं । अतएव विरवात्मिका यह एक वरुणा (एक टङ्गी) विज्ञानभाषा में — 'पञ्चपुण्डोराभाषास्यवस्तु' नाम मं व्यवहृत हुई है । पौष पुण्डरीवाली इस वरुणा में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, महः, जनम्, तपः, सत्यम्' ये सात लोक हैं । सुप्रसिद्ध पृथिवी 'भूलोक' है । सूर्यात्मक अगोल 'स्वर्लोक' है, एवं पृथिवी और सूर्य के मध्य का चान्द्र अन्तरिक्ष 'भुवर्लोक' है । परमेष्ठीयुक्त आपोम-यलोक 'जनलोक' है, एवं सूर्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक 'महर्लोक' है । स्वव-म्भूयुक्त प्राणमय लोक 'सत्यलोक' है, एवं परमेष्ठी और स्ववम्भू के मध्य का लोक 'तपोलोक' है । जैसा कि परिखल स स्पष्ट है—

१—स्ववम्भू—	(७)—सत्यम्	}—स्ववम्भू (१)
—नभस्वानसमुद्र—	(६)—तपः	
२—परमेष्ठी—	(५)—जनत	}—परमेष्ठी (२)
३—सरस्वानसमुद्र—	(४)—महः	
४—सूर्य—	(३)—स्वः	}—सूर्यापिन्द्रमसी (३ ४)
५—अणुवसमुद्र—	(२)—भुवः	
६—पृथ्वी—	(१)—भू]—पृथिवी (५)

उक्त सातों में भू-भुव-स्व-मह-जन-तप, य ६ भाव गतिरील दान म रजामावात्मक हैं । अतएव इन्हें 'रजोसि' कहा जाता है । सातवों मध्य स्ववम्भू रिपतिभाष क कारण रजोधर्म म अमरुष्ट रहना हुआ 'परावज्ञा' नाम म प्रसिद्ध है । इसी सातवें स्ववम्भूयुक्त परावज्ञा प्रजापति क मूल-निषत्तिरूप पारा म ६ ओ रज स्तम्भ हैं । स्ववम्भू न इसी परावज्ञातत्त्व की और हमारा ध्यान आकर्षित किया है, निम की बिगर वैज्ञानिक व्याख्या यथावसर की जायगी ।

कहा जाता है। अतिरिक्त इस गामत्र क्षेत्र में पार्थिव अग्नि, आन्तरिक वायु, पार्थिव
रसमात्रा, तीनों अतिष्ठित हो जाते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि, पार्थिव-
मुक्त वायुसंयोग से हरिमरुत प्राचीनमार्गद्वारा पार्थिव-सकृमात्रा शुद्धी की ओर जा
रही है। इन्हीं दृष्टि से 'हरिम' की अपेक्षा 'आदिस्थात्रापते' दृष्टि 'कहा जा सकता
है। 'पार्थिवप्रपेक्षया 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जा सकता है। एवं
आन्तरिक वायुपक्षया 'वायुर्बे वृष्ट्या इरा' यह कहा जा सकता है। तीनों ही बचन
तत्त्वपेक्षया सुसमन्वित हैं। नाडी (हरिम) अग्निप्राणमुक्त वायु से सम्बद्ध इती-
वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करने हुए हमारा कथौतिक विज्ञानशास्त्र कहता है—
"नाह्यो वायुसंयोगादारोह्यम् (अपाम्) । नोदनापीकनात् 'संयुक्तसंयोगात्'
(अरोपिक इरान-अगिह, ३, सू०) ।

'नाह्यो वायुसंयोगात्' आरोहित पार्थिव जल से सम्बन्ध रखने वाली
वृष्टिविज्ञान के गमन, स्थिति वर्णन, व तीन अभिकरण माने जा सकते हैं। यहाँ से
पानी जाकर वहाँ पहुँचा, यही पहिला गमन अभिकरण है, जिसे 'गर्भाधानकाल'
कहा जा सकता है। वहाँ पहुँच कर पानी निश्चित समय पर्यन्त शुद्धीकृत वायुपरा
तल पर ठहर गया, यही दूसरा स्थित्यभिकरण है, जिसे 'बोद्धकाल' कहा जा सकता
है। निश्चित समयान्तर पानी पुनः बरस पड़ता है, यही तीसरा वर्णन्यभिकरण है,
जिसे 'प्रसवकाल' कहा जा सकता है। इस प्रकार गर्भ, बोद्ध, प्रसव, मेद से यह
वृष्टिकर्म त्रिपदा बन रहा है। पूर्वोक्त वायुसन्त्रयणी से वृष्टिकर्म के इन्हीं तीनों
पदों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके तात्त्विक समन्वय के लिये खगोल से सम्बन्ध
रखने वाली कुछ एक बाह्यपरिमाणुओं का स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा।

सदा सदा ही पार्थिव-हरिमर्मा ऊपर की ओर जाती रहती है। वायु भी
सदा ही प्रवाहित है। फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध
है। आर इन्हीं दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि, जैसे जलमात्रा का गमन नि-
रन्तर होता रहता है, एवमथ गुल के से उसका आगमन भी निरन्तर ही होता रहता
है। इस स्थिति गमनागमन कक्षण श्रृण्वत्त से ही 'अहोरात्र्य' नामक मैपम्ययस का
स्वरूप निम्नाण हुआ है। प्रकृत में हमें विचार इस वृष्टि कर्म का करना है, जिसका

० भारतीय विज्ञान अधिवक्ता, अक्षरव, अविभूत, मेद के तीन पदों में विभक्त प्रथम पदा
है। वेदप्रकरण, वेदप्रकरण, वेदप्रकरण तीनों के समस्त पदों में विभक्तों का स्पष्टी-
करण हुआ है, अतएव वेदप्रकरणप्रकरणप्रकरण द्वितीय पद के अक्षरपरीक्षा' पदक के
नाम में विभक्त वेदप्रकरण प्रकरण हुआ है।

पद्-अतुमूर्ति सम्बत्सर (वर्ष) के एक अतु विरोध (वर्षाअतु) में भोग हुआ करता है। वर्षाअतु में शुक्रोक्तस्य मेघों से जो अन्न बरसता है, उसी के सम्बन्ध में यह जानना है कि, कब तो यह पानी मृषिष्ठ से ऊपर गया ? कहां प्रतिष्ठित हुआ ? कब तक प्रतिष्ठित रहा ? एवं कब बरस पड़ा ? तात्पर्य यह है कि, हमें सुप्रसिद्ध वर्षा अतु से सम्बन्ध रखने वाले वर्षाअतु के ही गर्म-शोह-प्रसवमासों की मीमांसा अपेक्षित है।

। अतुर्मासात्मक शीतकाल गर्मकाल, अतुमासात्मक प्रीप्नकाल शोहकाल, एवं अतुमूर्तिमासात्मक वर्षाकाल प्रसवकाल माना गया है। मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन पर्यन्त पार्थिव अन्नमात्रा का शुद्धीकरण में गर्माधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आपाद पर्यन्त गम का पोषण होता है, एवं भाद्रपद से आरम्भ कर कार्तिक पर्यन्त वर्षा की प्रसूति होती है। जगोक्षीय अक्षरोहिणी, अक्षसी निष्कृति, आदि नामों से प्रसिद्ध, इन्द्रिकाराशि में मुक्त 'अधो' नक्षत्र मार्गशीर्ष की अमावास्या से सम्बद्ध है। अधोनाक्षत्रानुगत मार्गशीर्ष-कृष्णामावास्या ही गर्मकाल का उपक्रम माना गया है। एवमेव अधोमास की पूर्णिमा के साथ ही अधो-नक्षत्र का सम्बन्ध है। वही पूर्णिमा प्रसवकाल का उपक्रम माना गया है। इस सम्बन्ध में दृष्टिविद्या-धर्म्यो के जो परीक्षण हुए हैं, नास्तिक विधि के तारतम्य से व समी प्रामाणिक हैं। मूल नक्षत्र के उत्तराश्व नक्षत्र सूर्य का भोग होता है, तो गर्मकाल आरम्भ होता है। एवं आश्विननक्षत्रमुक्त सूर्य प्रसवकाल का उपक्रम बनता है। सूर्य की मूलनक्षत्रमुक्ति पौष मास में, एवं आश्विननक्षत्रमुक्ति आपाद मास में होता है। इस दृष्टिकोण से पौष गम का आपाद प्रसव का उपक्रम बन जाता है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार सूर्यवर्षिणावनामुगत पात गम का एवं सूर्योत्तराश्वानुगत पात प्रसव का उपक्रम है। मूल, पूषापाद, उत्तरापाद, अभिहित, अश्लेष, धनिष्ठा, शतभिषक, पूर्वभाद्रपद उत्तरभाद्रपद, रोहणी अश्विनी, भरणी ये १० नक्षत्र चान्द्र सोम के सहयोगी बनते हुए गम के उत्प्रेरक बनते हैं। आश्वि, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा पूर्वफल्गुनी उत्तरफल्गुनी, इस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, ये ११ नक्षत्र सौर अग्नि के सहयोगी बनते हुए प्रसव के प्रवर्धक बनते हैं। चान्द्रपार जहां गर्म की मूलप्रतिष्ठा है वहां सूर्यपार प्रसव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। आह्वयक सद्योच धम्मा चान्द्रसोम पार्थिव अन्नमात्रा का वहां अक्षरण कर उस रिक्तमात्र प्रदान करता है, वहां तत्रोक्त विकसधम्मा सौर अग्नि अन्नमात्रा का वहां वनावा है। निम्न सिद्धित आगतचरन इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है—

पौषे मूत्रमरिष्यन्तं चन्द्रधारण गर्भेति ।

आर्द्रादितो विद्याद्यान्ते सूर्य्यधारेण वर्षेति ।

—भीगुरुप्रणीत कार्त्तिकी (वृद्धिविद्या)

नियत मासविक्रम काल में मूत्रप्रेरा से जिस दिन जलमात्रा सूर्य्यधरिम, पामु, अग्नि, क संयोग से उत्पन्न होती है, उस दिन से आरम्भ कर ठीक ६ महीना १५ दिन (कुल १८५ दिन) पर्यन्त वह जलमात्रा शुलोक में प्रतिष्ठित रहती है। ठीक १८६ वें दिन उस का प्रसव होजाता है, पानी बरस पड़ता है। अतएव इस १८५ दिनात्मक गर्भस्थितिकाल के लिए 'सप्तार्द्धगर्मा' कहा जासकता है। सातवें महीने का आधा, अर्थात् १५ दिन, और पूरे ६ मास, कुल १८६ दिन, सप्तार्द्धगर्मा का यही निष्कर्ष है। इस सम्बन्ध में कुछ विरोधपूर्ण और ज्ञान सेन बाह्य। जिस दिन गमाधान होता है, उस दिन यदि पूषद्विशा में गमाधान है, तो १८६ वें दिन पश्चिम दिशा से मघ वृष्टि करत है। यदि पश्चिम में गर्माधान होगा तो पूर्व की ओर से वृष्टि होगी। एतमेव दक्षिणदिशामें गर्म है, तो उत्तर से, उत्तरमें गम में है, तो दक्षिणसे वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्माधान है, तो रात्रि में यदि रात्रि में गमाधान है, तो दिन में वृष्टि होगी। अतएव गर्माधानानुगता दिक्-काल से सर्वथा विपरीत दिक्-कालमें गर्म का प्रसव होगा। इस वैषम्य का कारण स्पष्ट है। ६॥ मास के अनन्तर हर-स्थिति के अनुसार आकाशप्रदेश में विपण्यव होजाता है। निष्कर्ष यही है कि, जिस दिन, जिस पक्ष, जिस दिशा में गमाधान होता है, ६॥ मास के अनन्तर भी आकाश के उसी प्रदेश-कालमें गर्मस्थिति रहती है। तथापि पार्थिवपरिभ्रमणानुगत उत्तर-दक्षिणावन मेद से विभिन्न दूरी हुए इसी दृष्टि विपण्यव का कारण बन जाती है। यों समझिए कि, शुक्लपक्ष में गर्माधान हुआ। ठीक ६॥ मासानन्तर पानी तो उसी आकाशप्रदेश में रहगा जिस प्रदेश में ६॥ मास पूष शुक्लपक्ष से गवा था। परन्तु अवन-मेद से आकाश का वही प्रदेश, जो ६॥ मास पूष शुक्लपक्ष का अनुगमा था, ६॥ मासानन्तर कृष्णपक्षानुगामी बन जायगा। यही व्यवस्था अहोरात्र, पक्ष-पार्थमादि दिशाओं के सम्बन्ध में समझिए। प्रदेश विधर्म्यी (विभिन्न) महीं ८ परिभ्रमणानुगता दृष्टि का विभिन्न दिक्काल के मेद का कारण है।

जिस दिन गमाधान होता है, उस दिन शुलोक में विराट् परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। यही विभिन्न गमाधान का परिचायक बनता है। शीतवायु श्वेत अन्न विष्णु गज, आदि ही गमाधान के परिचायक हैं। इन परिचय-चिह्नों का परितान

मास कीमिष्ट, विष्-वैरा-का-आदि को, ठीक-ठीक, लक्ष्य बना लीमिष्ट । अमुक दिन से ठीक १६६ वें दिन अमुक पक्ष, अमुक दिन, अमुक रात्रि, अमुक विरा में अमुक मात्रा से पानी घरसेगा । इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, यदि गर्भपातक, (निरोधक, शक्ति-गन्त-धाम्यादि-प्रतिबन्धक सूत्रों की रचना के मध्यमें आजायेंगे, तो परिस्थिति के अनुसार कालान्तरमें (जोकि काल गणितानुसार-सर्वथा व्यवस्थित है) या तो गर्भपात होजायगा, अथवा तो वह अतः जम कर-पापाय बन जायगा । फलतः १६६ वें दिन, वृष्टि न होगी । यदि गर्भपात होगया, तबतो कोई बात रोप यह ही नहीं जाती । यदि गर्भपात नहीं है, गर्भनिरोध है, तो-कालान्तर में करकापात होगा । बहीजमा हुआ पानी कूड़ा (धोले) पात है । इस प्रकार, गर्भाधानमात्रे, गर्भपात, गर्भ निरोध, आदि निमित्तों का सम्यक्-परिज्ञान प्राप्त करने, वृष्टि का जो समय अवकाश जायगा, वह प्रकृति का अद्वय विधान मात्रा जायगा, जिस की उपस्था कर आकाशों में अपना स्वयंस्व लो दिया है । बाह्यधर्मा समाप्त हुई, सब अन्तर्धर्मा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । 'सप्तार्द्धगर्भा' इत्यादि मन्त्र का अन्वय है- 'लोकसर्ग के रेवोमूत गम सप्तार्द्धगर्भा रूप से विष्णु (आकाश) के विभिन्न विष्-प्रदरा में प्रतिष्ठित होते हैं । व अन्तर्गर्भ धीमावों, तथा मानसमावों से विपश्चिन्मात्र से सर्वत्र व्याप्त हो जाय, हैं ।

बहु-लोक, वैश्व, धम्म, इस चार प्रारम्भिक सर्गों की प्रकृति क्रमशः प्राणमुल आपोमुल, वायुमुल अन्नगर्भित अन्नाहमुल, इस चार मुक्तों से मानी गई है । प्राणोवि प्रकृतिर्षो जल क'पार मुग है । इससे सृष्टिब्रह्मण्य की विकास हुआ है । 'लोकार्द्ध' प्रतिष्ठित- 'सप्तमापोमव जगत्'-इत्यादि क अनुसार अप्रतस्व ही काकवृष्टि का मूलप्रवर्तक माना गया है । यही लोकसर्ग का आरम्भक है । अतएव 'जीर्जनं भुवनं वनम' रूपम 'आप' को भुवन ('लोक') नाम से भी व्यवहृत किया जाता है । अप्रतस्व भुवन का आरम्भक है, अतएव इस अवयव ही 'भुवनस्य रत' कहा जासकता है । पार्थिव भुवन की रतामृता जलमात्रा अग्निबायुसहयोगिनी सूर्यवैतरमयी के द्वारा आरोहित होती है । आरोहिता उर्ध्वगता जलमात्रा सौरवरिमयों में १॥ गदीना गर्भीमृता रहती है । गर्भीमृता जलमात्रा उत्तराकारमें प्रतिष्ठित रहती है । आकाश परमणी है परमणी विष्णु है । इस आकाश की अन्तर्म सीमा 'व्योम' कहलाय है, यही विष्णुपद नाम से व्यवहृत हुआ है । अन्तिम सीमा, भू-वप्रदरा है, यही नाक्य विष्णुमदल है । उत्तराध्वानुगत माक्य विष्णुपद ही आकाश का उत्पत्तम ध्यान माना गया है । इसी विष्णुपद क लिए कहा जाता है—

तद्विष्णाः परम पद सदा पश्यन्ति हरयः ।

दिवाव चक्षुरततम् ॥ अङ्क० १।२१।२० ।

जिस प्रकार चन्द्रमा अक्षरवृत्त के आधार पर भूपरिह के चारों ओर घूमता है, भूपरिह क्रान्तिवृत्त के आधार पर सूर्य के चारों ओर, सूर्यपरिह सूत्रात्मवृत्त के आधार पर परमेशी के चारों ओर, परमेशी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है, एवमेव उत्तरायुष माकम्ब विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है । भूष की यह परिक्रमा २५००० वर्षों में समाप्त होती है । जिस प्रकार विष्वक्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र भूष है, एवमेव क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कदम्ब (विष्णुपद) है । भूष विष्वक्वृत्त का केन्द्र है, तो कदम्ब क्रान्तिवृत्त का केन्द्र है । विष्वक्वृत्त, और क्रान्तिवृत्त में २४ अंश का अन्तर है । वही अन्तर भूष, और कदम्बमूर्ति नाकम्ब विष्णु का है । २४ अंश का व्यासार्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तरायणानुगत प्रदेश है, वही विष्णुपद है । इसका केन्द्र में प्रविष्टि पार-मध्य प्राण ही—जो अपने प्राणधर्म से सर्वथा अमृत है—विष्णु है । इस विष्णु का प्रवेश ही उत्तरायण प्रवेश है । यही तत्काल अक्षमात्रा गर्भीमूत रहती है । जैसा कि बतलाया गया है, भूपरिभ्रमण के कारण सप्ताह गर्भा हरिमयों, किंवा तद्रूपा आप—गर्भाधान-स्थिति के ठीक विपर्यय से बरसती हैं । इसी विपर्ययमात्र का—'प्रदिरा विषम्मलि' वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है ।

गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से, प्रसव होता है सूर्य के सहयोग से, जैसा कि—'चन्द्रचारण गर्भति, सूर्यचारण बर्पति' रूप से पृथ में स्पष्ट किया जा चुका है । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन में, परन्तु सूर्यानुगत प्रसवकाल ११ दिवसों में विभक्त है । मन्त्रोपात्त 'मनसा' शब्द चन्द्रचारणानुगत गर्भाधान का सूचक है, एवं 'धीर्धितिमे' सूर्यचारणानुगत प्रसवकाल का सूचक है । कारण स्पष्ट है । चान्द्रसोम मनोमय है, और अग्नि धील-रस है । मन का चन्द्रमा में बुद्धि का मूल्य से सम्बन्ध है । मनमा (चान्द्रसोमेन) धार्यमाण गर्भ धीर्धितियों (सागरिमयों) के पार से ही ता प्रसूत होता है । बुद्धि का 'विपश्चित' शब्द अतिरायवृत्त रहस्य पूर्ण है । निवर्तित क्रिया विरिक् चिति ही इस शब्द में सूचित हो रही है । 'विपरीत—विदिग्माग जपनम्—चित्—येषां त गर्भा' ही विपश्चित का रहस्यार्थ है । 'वि' पूर्वक परा ही 'विपश्चित' का मौलिक आधार है । मरुता—मंछेन—विज्ञानानुसार 'प' कार १ संख्या का सूचक है, 'श' कार २ संख्या

का सूचक है। परा का अर्थ होता है-१५ संख्या। 'अङ्गानां वामतो गति' के अनुसार १-५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५-१ (५१) निष्कर्ष निकलता है। यह यहाँ अभिप्रेत है नहीं। अभिप्रेत है १५ ही। यही है माघ 'वि स सुस्थित हो रहा है। 'परा-माघ-(५१ संख्या) विरुद्ध (१५) कुप्योत्, ५१ स्थाने १५ बिछाव' यही रहस्यार्थ 'विपरा' स सुस्थित हुआ है। तात्पर्य यह निकलता है कि, जिस नक्षत्र में आकाश-प्रवेश में गर्भाधान होता है, जलमात्रा की धिति (सञ्चय) होती है, उस नक्षत्रके १५ वें नक्षत्र में उस गर्भीमूत जल की वृद्धि होती है। इसप्रकार १५ नक्षत्रमात्र से ही जल की धिति होती है। अतएव गर्भीमूला आपोमयी गरिमयो को अवश्य ही 'विपश्चि' कहा जा सकता है। यदि मूल नक्षत्र में मनसा (चन्द्रचारेण) गर्भाधान है, तो आर्द्रा नक्षत्रमें (जो कि मूलम १५ वाँ नक्षत्र है)-धीतिभि (सूर्यचारेण) उस गर्भ की प्रसूति हो आयगी, जैसा कि 'पीपे मूलमरप्यन्तम्' इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार 'ममादृगमा' इत्यादि मन्त्र गर्भीप्रति का स्वरूप बतलाता हुआ चन्द्रचारातुल्य गमाधान, सूर्यचारातुल्य प्रसवकर्म, दोनों का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। अब क्रमव्रत-कृष्णं निवानं हरणं सुपणा इत्यादि मन्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्राय के मन्त्रान्य में विंगण बलम्ब नहीं है। पार्थिव जल किस क द्वारा किस मार्ग से कहा जाता है? कहाँ स कब, किस के द्वारा बरसता है? इत्यादि प्रश्नों के पूर्वोक्त समाधानों का ही-कृष्णं निवानम० इत्यादि मन्त्र स स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमार्ग उत्तरायण कहाया है, कृष्णमार्ग दक्षिणावत कहाया है। कृष्णमार्ग का पार्थिव कृष्णवर्ण भूयाधि से सम्बन्ध है, शुक्लमार्ग का सौर शुक्ल-वर्ण सावित्राग्नि स सम्बन्ध है। 'ऊपर' का अर्थ है 'उत्तर' नीचे का अर्थ है-दक्षिण'। दक्षिणदिशा भूपिण्ड की आवासभूमि है उत्तरदिशा मृत्प की आवासभूमि है। अतएव सौर इन्द्र का उत्तर स सम्बन्ध माना गया है। दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है, यह पार्थिव कृष्णवर्ण स सम्बन्ध स कृष्ण है। यही अणु प्रहरा है। बही-कृष्ण-गाम है। इन्द्र निम्न माघ का ही 'नि' से सहित हुआ है। पतत-कृष्णं नि-वानम का अर्थ होता है-दक्षिणगया-अवाप्तस्थिता पृथिवी को लय बनाकर (कृष्ण निवासभूमिलय)। उत्तर मागम किंवा शुक्लपवानुगामिनी मृत्प की गरिमयो अपन आवाहक हरण लक्षण आदान धर्म से कहा-हरण' (हरति, आहरति) कहा है। बही आत्मनगत्य मुरणधिति स सम्बन्ध स इन्द्र 'सुपणा' कहा गया है। मृत्प से बतलाया गया है कि आग्न गाद्या मीमेत गावित्री है, पिण्ड स टकरा

कर प्रतिक्रियित होने बाकी सौर वेद गायत्री है। यह गायत्रवेद ही सुपर्ण है, जिसके गम में—‘नाड्यो वायुर्धर्मयोगादारोहणम्’ सिद्धान्तानुसार पार्थिव जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। ‘यति च प्रेति चान्वाह’ ही इस गायत्र सुपर्ण का वास्तविक इतिवृत्त है, जिसका पूर्व के ‘सामिधेमी-ब्राह्मण’ में विराट् बौद्धानिक विवेचन किया जा चुका है। भागमनावस्था में सूर्यरश्मियों केवल रश्मियों है, गमनदशा (गायत्रीदशा) में ही ये आहरण करती हैं, सभी इनकी सुपर्णता अन्वर्थ बनती है। अतएव गमनावस्था-पश्चात् गायत्रवेदांमयी सूर्यरश्मियों को ही ‘हरय सुपर्णा’ कहा आयागा। ये रश्मियों निम्न-(रुचिष) भागस्व कृष्णयान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर (भूपिण्ड से-संस्तिप्त होकर) उत्तरस्था जलमात्रा को अपने गर्भ में धारण करती हुई शुक्लोक की ओर प्रतिक्रियित होजाती हैं। ‘कृष्णं निवानं हरय सुपर्णा अपो वसाना विबभूवुव-न्ति’ यह मन्त्रपूर्वाद्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विरलपेण कर रहा है।

अप, वायु, सोम, तीनों मार्गव तत्त्व ‘अत’ कहलाये हैं। ‘अतमेव परमेष्ठी’ इस आदर्शसिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही अत है, इसी को पूर्वमन्त्रम-करण में ‘विष्णुपद’ कहा गया है। यह परमेष्ठ्य अपतत्त्व पन-तरल-विरल-भेद से आप-वायु-सोम, इन तीन अयम्याओं में परिणत रहता है। पनावस्थापन्न अपतत्त्व का आसुर वाक्स्वप्राण सं, तरलावस्थापन्न वायुतत्त्व का सोमरश्मि गन्धर्वप्राण से, एवं विरलावस्थापन्न सोमतत्त्व का सौम्य पितृप्राण से सम्बन्ध माना गया है। यही सोमतत्त्व विष्णुका स्वरूप समर्पक माना गया है, अतएव इनका यत्र तत्र ‘सोम-वंशी’ रूप सं उपबर्णन उपलब्ध होता है। सोमसम्बन्ध से उत्तर स्थान विष्णुपद है, अप्सम्बन्ध से यही उत्तरस्थान वाक्स्व भी है। अत अप अत सोमात्मकता ही उत्तर स्थान की अतसदनता है, जिसका निम्न लिखित रूप से विरलपेण हुआ है—

वरुणस्योत्तमनमसि वरुणस्य रुक्मसर्जनीस्यो वरुणस्य अतसदन्यसि ।

वरुणस्य अतसदनमसि वरुणस्य अतसदनमासीद ॥

—यजुर्मं० ३१३६।

रुचिणस्य भूपिण्ड से सूर्यरश्मियों क द्वारा शुक्लोक में गर्भित जलमात्रा कब आपम भूलोक में प्रसूती है? इसी प्रश्न का समाधान करती द्रुड मुनि कहती है कि, व अष्टागमय सुपर्ण (रश्मियों) जब अतदन स (उत्तरदिशा से परावर्तित होती हैं (रुचिणायन का अनुगमन करती हैं) आश्विन्-अम्बुवदितोत्तरकाश में ही

पूत (जल) से पृथिवी कास्वालीकृत हो जाती है, जलमयी बन जाती है। यही गर्भ की प्रसूति है। अन्तर्गत—‘समानमंतदुवक्त्रम्’ इत्यादि तृतीय मन्त्र का विस्तारण पूर्वमें किया ही जा चुका है। इस प्रकार यह अक्स-त्रयी वृष्टिविद्या का अंशतः स्पष्टीकरण करने में सफल हो रही है।

यह तो हुए वृष्टिविद्या। अब दो शब्दों में पुराणार्था का भी समन्वय इसलिये कर लेना चाहिये कि, तथाकथित भ्रान्तों की दृष्टि में पुराण एक निरर्थक शास्त्र बन रहा है। जिन तत्त्वविद्वांनों का बचराक्ष में प्रकीर्णक रूप से विस्तारण हुआ है, पुराण न बही ही प्रसादभाषा में एकत्र उनका समन्वय कर डाला है। सभी तो—‘विद्वांसपुराणार्था वक्त्रं समुपहृदयेत्’ कथन परित्याग हो रहा है। अभिक विस्तार में न आकर वृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखन वाले कुछ एक वचन मात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिए जात हैं—

१—अष्टमासपूत गर्भं मास्करस्य गमस्तिमिः ।

रस सर्वसमुद्राणां योः प्रवृत्ते रसायनम् ॥—वा०२।० ।

२—विषस्वानष्टमिर्मांसैरादायापो रसात्मिकाः ।

पर्वत्यम्बु ततश्चान्न—मन्नादमसिल भगद ॥

३—आदत्त रश्मिभिर्षु क्षितिसस्त्र रस रविः ।

तनुसुवृत्ति भूतानां पृथ्वर्ष सस्यशृङ्गे ॥

४—सरित्—समुद्र—स्थयापः प्राणिसुम्मवाः ।

चतु प्रकारा मगधानादत्त सवितांशुमिः ॥

५—विषस्वानशुर्मिर्तीक्ष्णरादाय जगतोऽन्नतम् ।

गाम पुष्पाति सोमस्तु वायुनोऽहीयर्षेर्दिबम् ॥

६—अर्धेर्विषिष्यतेऽन्नं पुष्पात्पान्यनित्तमूर्ध्वम् ।

अन्नस्याः प्रपतन्स्यापो वायुना समुदीरिताः ॥ इत्योदि

—अथपुराणम्

पुष्टिगम्यभाषा में मन्त्र-त्रय अथवा वचन पूर्वप्रतिपादित वृष्टिविद्या का तैत्तिरीय संहिता में भी (काशीी त्रिप्रकरण म) दिग्दर्शन कराया गया है जिसका निम्न

यही है कि, अग्नि-सोम-सूर्य-मित्र-ब्रह्म-अथमा-वर्जन्मादि प्राकृतिक देवताओं के समन्वय से वृष्टिरूप में सञ्चालित है। यदि राष्ट्र में अनाहुति-वर्जित दुष्काल की सम्भावना हो, तो वैदिकानिह ज्ञातियों को उस 'कारोरी' इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए, जिस में वृष्यविष्टावा उक्त प्राणदेवताओं के आभिधीतिक प्ररूपों के माध्यम से अनुग्रहप्राप्ति का विरलेपण हुआ है। मकरण मात्ररुका से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतएव सें सं० का यह स्थान, यहां उद्धृतमात्र कर दिया जाता है। अतएव ही उद्धृत निम्नप्रकरण, जैमानिकों का ध्यान वृष्टिविषय के मकरणपूष विरले पण की ओर आकर्षित करेगा।

प्राकृतिकम्-(१)-“माहुतमसि मरुतामोजोऽतां घातां मिचि (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिन अनाजस वृषण सुहृत्कि । येन सवे उपमवसृष्ट मति तद्विना परिषत् स्वस्ति (२) ॥ पुरोवाता वपन्, विन्वरावृत्, स्वाहा (३) ॥ वातावश्यन्तुप्रवावृत् स्वाहा (४) ॥ वृणवन् वर्पन्, मांमरावृत् स्वाहा (५) ॥ अनश्नन्वसृष्टु वेन् दिद्युर्द्वेन्, त्वेपरावृत् स्वाहा (६) ॥ अतिरात्र वर्पन् पतिरावृत् स्वाहा (७) ॥ बहु हापमवृपादिति भुतरावृत् स्वाहा (८) ॥ वातपति वर्पन् विराहावृत् स्वाहा (९) ॥ अश्वकुर्वन् दिद्युर्द्वेन् भूरावृत् स्वाहा (१०) ॥ मान्दा वाता सुन्ध्यूरविता न्यातिभवीस्तमस्वरीरु-न्दतीः सुफेना, मित्रमृता, धर्ममृता, सुराभ्या इह मावत ११ ॥ वृष्यो अश्वस्य सन्दानमसि, वृष्यो त्वेपनसामि (१२) ॥ इन्द्रसमन्त्रात्मकवच सूर्यः प्रपाठकः, सप्तमाऽनुवाकवच । सं० सं० ३१५५-१ ।

प्राकृतिकम्-वृष्यावधानम्-(१)-“माहुतमसि मरुतामोज-इति, -कृष्ण वासः कृष्मन् परिषत् । एतद्रूपं रूपम् । सरूप एव मरुता पर्वन् वर्पयति (१) ॥ रमयत मरुत श्येनमायिनम्-इति, -वृष्यादोतं प्रतिमी वति । पुरोवातामेव मनयति वपन्वावृत् (२) ॥ वातनामानि जुहोति । “वापुर्मे वृष्या इति” । वापुर्मे स्वेन मागर्षेयेनोत्तरवावति । स एवास्मै पर्वन् वर्पयति (३) ॥ मरुतो जुहोति । अत्रमा वे दिद्युः, अत्रमाऽजान्तर-दिद्युः । दिद्युश्च एव वृष्टिः सम्प्रन्वावयति (४) ॥ कृष्णामिन सपीति इतिरेव । अतएवदि सपीति अश्वरुद्वे (५) ॥ पर्वीनामपमानानां शीयामि परापतन् । ते खन् रा अवयन । तर्वा ग्व ऊर्वाऽपतन् तानि

करीराण्यमवन् । सौम्यानि वै करीरोणि । सौम्या बलु वा आहुतिर्दिशो
 वृष्टिं ष्योषयति (६) ॥ यत् करीराणि भवन्ति—सौम्यैवाहुत्या दिशो
 वृष्टिमवर्तन्ते । मधुपा सवीति । अपां वा एष ओषधीनां रसः यन्मधु ।
 अवृम्य एवौषधीभ्यो वर्षति । अपो अवृम्य एवौषधीभ्यो वृष्टिं निनयति ।
 मान्दा वात्याः—इति सवीति । नामधेयैरेवैनां वृष्टिर्हति । अपो यथा
 मूत्रात्—अमावेदोति, एवमेवैनां नामधेयैरावृषयति (७) ॥ इच्छो
 अश्वस्य सन्दानमधि । वृष्टयै त्वोपनयामि, इत्याह वृषा वा अश्व, वृषा
 पर्जन्यः । इच्छ इव बलु वै मूत्रा वर्षति । रूपेणैवैर्न समर्षयति—वर्षस्याह
 वृष्टयै (८) ॥—तै० सं० २४४६ ।

उत्तपयम्—(२)—“देवा वसव्या अग्ने सोम सूर्य्य (१) ॥ देवाः सूर्म्य
 ष्या मित्रावरुणार्पमन् (२) ॥ देवाः—सपीतयोऽर्पानपादास्तुहेमन् (३) ॥
 उदो दसोदधिं मित्त, दिव वर्धन्वादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्या
 वत (४) ॥ दिवा विसम कुण्वन्ति वर्धन्वेनेदराहेन पृथिवीं यत् स्यु
 न्दन्ति (५) ॥ आ य नरः सुदानवो ददत्तुषे दिवः कोऽमपुष्युवुः, वि
 पञ्चेत्याः सुवन्ति रेतसी बन्तु धन्वना वन्ति इहवा (६) ॥ उदीरयथा
 मरुतः समुद्रतो पूर्वं वृष्टिं वर्षयथाः प्रतीचिणः, न वो दसो उददस्यन्ति
 धेनवः, शुभ यातामनु रवा अवृत्सव (७) ॥ सुवां वृष्टिं दिव, आवृमिः
 समुद्र पूज, अम्बा असि प्रथमवा, वरुमधि समुद्रिषम् (८) ॥ उन्नम्मय
 पृथिवीं मिह्रीदं दिव्य नव, उदो दिव्यस्य नो, देहोऽशानो विसृजा
 वतिम् (९) ॥ ये देवा दिविमाणा ये ऽन्तरिक्षमाणा ये पृथिवीमाणाः त
 इम वज्रमवन्तु त इव क्षेत्रमाविवन्तु, त इव क्षेत्रमनुविष्टन्तु (१०) ॥
 वसुमन्त्रारमकपदुर्ग्य प्रवाठकः, अष्टमोऽनुवाकश्च ।—तै० सं० २४४८ ।

उत्तपयमन्त्रव्याख्यानम्—(३)—“देवा वसव्या, देवा सूर्म्यष्या, देवाः
 सपीतय इत्यामज्जाति । देवतामिरेवान्वाह वृष्टिमिच्छाति । यदि वर्षेत्—
 तावत्येव हेतुम्यम् । यदि न वर्षेत् श्वोमृते इत्यनिर्बपेत् । अहोरात्रे वी
 मित्रावरुणौ अहोरात्राभ्यां बलु वी वर्जन्यो वर्षति । नक्त वा हि दिवा
 वा वपति । मित्रावरुणावैव स्थेन मातापयेनोपधावति । तावेषास्मै अहोरा
 त्राभ्यां पर्जन्य वपयत । अथवा धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपाल निगपेत्,

मास्तु सप्तकपाल, सीर्यमेककपालम् । अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत
सृष्ट्या नयन्ति, यदा खलु वा असावादिस्तो न्यङ् रश्मिमिः पट्यान्वर्षते,
अथ वर्षति । घामच्छदिव खलु भी मूत्वा वर्षति । एता भी देवता वृष्ट्या
ईधते । ता एव स्वेन मागधेयेनोपघावति सा एवास्मै पर्जन्य वर्षयन्ति ।

तदा वर्षिष्यन् वर्षम्येव । सुधा वृष्टिं दिवा, आवृमिः समुद्रं पूण,
इवाह । इमाश्चवामूष्वाणं समर्हयति । अथो आग्निरेवामूरन्ध्रेति ।
अग्ना असि प्रवमसा, बलमसि समुद्रिय, इत्याह । यथा यजुरेगेतत् ।
उन्नम्य पृथिवी इति वपाह्वा जुहाति । एषा वा ओषधीनां वृष्टिबनिः ।
तयैव वृष्टिवाक्पत्यति । ये देवा दिवि भागा—इति कृष्णाभिनमवधूनाति ।
इम एवास्मै लोका प्रीता अमीप्सा भवन्ति” ।—सै० सं० २५५१० ।

वैत्तिरीय संहिता के चार अनुवाकों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र माग से
सुप्रसिद्ध ‘कायीये-इष्टि’ की इष्टिकर्म्यता का स्पष्टीकरण हुआ है । कर्मवैत्तिकर्म्यता
के साथ साथ उक्त इष्टि प्रकरण में वृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले आधि वैदिक विज्ञान
का भी अंशतः विरलेपण हुआ है । ‘मात्स्यमसि०’ वहाँ से इसका उपाक्रम है,
एवं ‘अमीप्सा भवन्ति’ पर अवसान है । उपाक्रम वाक्य यह सूचित कर रहा है
कि, आन्तरिक्य मरुदेवता (वायुदेवता) ही वृष्टिकर्म के प्रधान निमित्त हैं ।
यद्यपि अग्नि, सूर्य, विद्युत्, तनयितु, सोम, मेघ, आदि सभी निमित्त बनते हैं,
परन्तु इन सब प्राणों का सम्बन्ध एकमात्र वृष्टिकर्मा वायु के सञ्चार पर ही
निर्भर है । अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जा सकता है । अतएव
प्राच्यवैदिकमन्त्रवाक्यान् अति में ‘वायुर्वा वृष्ट्या इतो’ इत्यादिरूप से वायु को ही
वृष्टि का प्रधान प्रवर्तक बतलाया गया है । इसी अंश सिद्धान्त के आधार पर निम्न
लिखित वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

सूर्यं दक्षिणगोलस्थं तप्तादम्भेरमुत्थितिः ॥

तद्योय वायुना धिर्षं दग्ने देग्ने प्रवर्षति ॥ १ ॥

न सूर्यो न च नद्यश्च न चन्द्रस्तत्रकारणम् ॥

वायुर्नैवोत्पृष्टं सोय वायुरेव प्रवर्षति ॥ २ ॥

—भीगुरुप्रणीत काव्यभित्त

१. दृष्टि है भौतिक द्रव्यों, पर, मनोयोग, ई—आग्निदेविक, प्राण-रथवालों के साथ, यही सम्पूर्णमन्त्रभाग का वास्तविक निष्कर्ष है। कारीरी दृष्टि में काष्ठा, वष पहिना जाता है, जिसके चारों कोने गहरे कासे होते हैं। यही, वक्ष-‘कृष्णवृक्ष-कृष्ण वास’ कहलाता है। यह कृष्णवृक्ष धासवृक्ष मेघ, कृष्णवृक्ष, एवं कृष्णमस्तु, इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही दृष्टि का स्वरूप है। मेघ इसी रूप में परिणित होकर वरमत्ता है। इसी प्रकार कारीर सौम्यप्राण का संमाहक है। वातहोम अष्टविध मासत्रिक सर्प-बायु का संमाहक, है। पार्थिव, अग्नि धाम अहम् है। बसु सम्बन्धन यह असृष्टावयव है। आन्तरिक्य मस्तु सुप्तावयव है, सुप्यं ‘एकल एव स्यात्’। दृष्टिकर्म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अतएव कारीरी दृष्टि में धामवृक्ष अग्नि, मस्तुवायु बायु, सौर इन्द्र, तीनों के लिए क्रमशः अष्टाक-पाक-मयकपाक-एककपाक-पुरोहार का निवाप होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्र ऊपर फैला है, आन्तरिक्य मस्तुवायु उसे अपने गर्भ में रक्षता है, सुप्य रश्मियों से बरसा देते हैं। अग्निर्वा, इतो दृष्टि-मुदीरयति’ इत्यादि स इसी उपयोग का व्यष्टीकरण हुआ है। ‘ये देवा विवि भागा’ (पेन्द्रा), वेत्तरिकभागा (वायव्या), वे दृष्टिर्वाभागा (आग्नेया) क अनुसार तीनों ही इस दृष्टि-याम (कारीरीष्टि) के स्वरूप सम्पादक हैं। अवरय ही तत्त्व प्राणद्वयानुरूप कृष्णवाम करोर, पुरोहारवादि तत्त्व भौतिक द्रव्यों के साम्यमस तत्त्वप्राणरथवालों के द्वारा अमीष्ट सिद्धि (वर्ण) हो जाती है। ‘इम एवास्मै लोका प्रीता अमीष्टा भवन्ति’ इस उपसंहार वाक्य से इसी कर्मसिद्धि का समर्थन हुआ है। यज्ञप्रक्रियाओं से क्या सम्भव नहीं? आवरयकता है—यस्य ज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण-देवताओं के प्रवृत्तिविस्तार हो जान स ही अमादृष्टि, अतिदृष्टि-अनित दुष्काल, जनपद-विदुष्यमिनी, फरकापात, रक्तपात आग्नेय-वाङ्मय-गन्ध-वायव्यादि भूकर्म, आदि विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। मानव समाज प्राकृतिक विरह का अवयव है। इस के प्रवृत्तिविस्तार-गमन से अवयवीरूप प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक विधानों में अप्यवस्वता का समावेश स्वतः मिळ ई। इस प्रकार प्राकृतिकविस्तार आपरण करत हुए हम स्वयं ही उष्ट विघ्नों के प्रयत्नक जनक हैं। वर्तमान युग के मानव समाज की इसी विवृति से भाव पर पर हमें इन विघ्नों का आक्रमण सहना पड़ रहा है। अर्थात् प्राण विघ्नमामार्ग (यज्ञ) आज के शक्तिमान समाज के लिए बड़ा उपहास की वस्तु बन रहा है बड़ा प्रवृत्ति का अधिकाधिक प्रवृत्ति करने वाले अमरय मरण अगम्यगमन, अमृत्यव मरण, वक्ष-द्विष्ट-गुरु-गुह्यापरिभाषा,

मच्छास्त्रनिन्दा, मक्षिनीकरण-संकरीकरण-आतिशयकर, आदि पातक-भक्ति पातक-महापातक निम्न असत्कर्मों में प्रवृत्ति, मर्त्यादीशर्तपन, कल्पित साम्य-बाद की घोषणा, सर्वोपरि दुराग्रह, आदि आदि अधर्मपथ प्राप्त बने हुए हैं। स्मरण रहिये, जब तक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया जायगा, तब तक एक दो-चार-एक नहीं, सहस्रों आन्ध्रान्तों से भी, जिनके मूल में पातक व्यक्ति-प्रतिष्ठा का मोह प्रविष्टित है-मानव समाज सुस्थिर न बन सकेगा। इस के लिए तो प्राकृतिक विरह की सुस्थिरता ही प्रधान साधन होगा। एवं इस साधन के लिए प्राकृतिक-निमग्न संपातकाल शाश्वत सनातनधर्म-यथ ही एकमात्र मेष-पन्था माना जायगा। धाम्-मानवसमाज के कल्याण के लिए उसी प्रशस्त पथ की भावना करते हुए बुद्धिगम्या भाषा से सम्पन्न रहने वाला शुद्धिज्ञान-प्रकरण उपरत होता है, एवं सहजमापातुगामी प्रकरण का संक्षिप्त निरूपण प्रारम्भ होता है।

एक वर्ष में जो दो वसन्तारि ६ ऋतुएँ (मीसम) मानी गई हैं, परन्तु 'मीसम-वर्षा-शीत' इन तीन स्थूल ऋतुओं का तो सर्वसाधारण को भी बोध है। इन्हीं तीनो को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है—'त्रयो वाऽ ऋतवः सम्बत्सरम्' (शत० ३।४।४।१०)। सहजमापा में ये ही तीनों क्रमशः गर्मी, बरसात, सर्दी, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीन मीसमों के प्रत्येक के ४४ महीने हो जाते हैं। इस ओर ऋतुमांसारिका गर्मा है, उस ओर ऋतुमांसास्मिका सर्दी है, मध्यमें ऋतुमांसात्मिका बरसात है। बरसात दोनों के मध्य में है। और ऐसा एक लौकिकन्याय (व्यवहार) है कि, मध्यम पशुधर्म का श्वर-उत्तर रहने वाले दोनों पार्श्वधर्म पशुधर्मों से ग्रहण हो जाता है। अतएव कहा जासकता है कि, एक वर्ष में केवल गर्मी, एवं सर्दी, यही दो ही मीसम हैं। बरसात का ग्रहण इन दोनों के ग्रहण से ही करितार्थ है। इसी व्यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में योष्मकाल, शीतकाल, यही दो ही मीसम मान लिए जाते हैं। योष्मकाल उष्णकाल है, इसी का अपभ्रंश 'उष्ण' है। शीतकाल का अपभ्रंश 'शीत' है। वर्ष में यही दो ही फसल होती हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ना है कि, वस्तुतः गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूल प्रतिष्ठा है। कारण स्पष्ट है। पृथिवी पर रहने वालों के लिए पार्थिव ऋतुओं की ही प्रधानता ही जायगी। एवं 'अग्निम्-ध्यान'-'पथाग्निगमां पृथिवी'-इत्यादि ब्रह्मों के अनुसार पृथिवी में अग्निवत्त्व की प्रधानता है। अतएव सामना पड़ेगा कि पार्थिव प्रजा न सम्बन्ध रहने वाली ऋतुओं में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ताप-शुद्धि न ही पार्थिव ० ३ ४, ६ ७ आदि विभिन्न

अनुभों की प्रवृत्ति होती है। जिसे हम 'शीत' कहते हैं, वही वैज्ञानिक 'सोम' तत्व है। इस सोमतत्व के मास्वरसोम, विक्स्सोम मेरु से यो विवर्ध माने गए हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट आन्तरिक्ष चन्द्रमा मास्वरसोम है। यही 'सहस्रं सरासीर-सत्सम' परिमापानुसार केन्द्रानुगत-पिबद्वावच्छिन्न वाग्मास्वर (व्योतिर्मय-चमकीला) सोम अवश्य ही 'सत्यसोम' माना जासकता है। विशाल आन्तरिक्ष में वायुसमुद्र व्याप्त है। इस वायुपरबापन वायुसमुद्र में व्याप्त भीरूप-प्राणायामक सोमतत्व ही दूसरा 'विक्स्सोम' है। 'अहवचमरासीर' 'अतम्' इस परिमाण के अनुसार केन्द्र-पिबद्वाव से पश्चिम प्राणायामक इस आन्तरिक्ष विक्स्सोम को अवश्यमेव 'अत सोम' कहा जासकता है। मास्वरसोम (चन्द्रमा) जहाँ अपने सकेन्द्रपिबद्वा भाव से प्रवृत्त है, वहाँ विक्स्सोम अपने अकेन्द्र सरासीर भाव से अप्रत्यक्ष है। सम्पूर्ण जगत् में एकत्र से यह 'अतसोम' व्याप्त है, जिसका 'वास के पानी' से मसीमंति अनुमान लगाया जासकता है। सूर्यसत्तात्मक दिन में, सूर्यमाहात्मिका रात्रि में सदासर्वदा यद्यपि आन्तरिक्ष अतसोम अज्ञानरूप से भूपिण्ड की ओर प्रवृत्त होता रहता है। तथापि पृथिवी में इस की मुक्ति रात्रि में ही होती है। दिन में सौरपरिमग्न सोममिय इन्द्रप्राण इसे अपने अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सर्वत्र वृक्षज होता है, वह सूर्योदय से पूर्व पूष ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है। उचित सूर्य होते हरिमयों से अपना गम बना करता है। प्रत्यक्ष दृष्ट यह ओस का पानी आन्तरिक्ष प्राणायामक विक्स्सोम का ही पार्थिव मीतिक अक्षमिश्रित भीतिकरूप है। तात्पर्य-कहने का यही है कि आन्तरिक्ष वायु में अतसोममात्रा प्रचलित रहती है। भूपिण्ड, सूर्यपिण्ड, दोनों में ही अग्निमात्रा प्रवर्धरूप से निकल कर आन्तरिक्ष वायुपरतन्त्र में उड़ी अतमात्र म रहती है। आकाश में यत्र चन्द्रमा सत्यसोम पिबद्वा है, तो पूर्वलक्षानुसार सूर्य सरासिपिबद्वा है। मन्वाग्निमय सूर्यपिण्ड के चन्द्र म 'सहस्रं-महिमान' सहस्रम् रूप में चारों ओर, सब ओर विनिस्तृत हरिमयों में से प्रचलित अग्निमात्रा प्रवर्धरूप में निकलती रहती है। जहाँ गर्मी तो सृजाल होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है। यह वाक्वाग्नि भी पूर्वलक्षानुसार 'अताग्नि' कहाया है।

यथा 'आग्निमिदं मयमागामकं चन्द्रपिण्ड मे उमी प्रवर्धद्वारा सोममात्रा निष्पन्न वायु में व्याप्त नहीं होती १, होती है और अवश्य होती है। चन्द्रमा से निकल कर अग्निमय म व्याप्त हान वाली मागमात्रा ही तो पार्थिव मुष्टिद्वारा

ओपधियों का पोषण करती है। एवमव सूर्य से निकलकर अन्तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवसृष्टिशाला बनस्पतियों का पोषण करती है। क्या ओपधियों में अग्निमात्रा, क्या बनस्पतियों में सोममात्रा नहीं रहती?, रहती है, और अवश्य रहती है। दोनों में दोनों की युक्ति है। केवल स्थिति में वारतन्त्र्य है। अग्निमात्रागर्भिता सोममात्रा अर्हो ओपधियों निम्माण करती है, वहाँ सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा मे बनस्पतियों का स्वरूप निम्माण होता है। दूसरे शब्दों में ओपधियों में चान्द्रसौम्यप्राण की, बनस्पतियों में सौर-आम्यप्राण को प्रधानता है। चन्द्रमा, सूर्य, दोनों क्रमशः सत्यसोम-सत्याग्निपिष्ट हैं। सत्यसोमस्त्रिहात्मक चन्द्रमा से विनिर्गत वायव्य अतसोम की सञ्जातीय भावा नुबन्ध से सौम्य उत्तराकाश में प्रधानता रहती है। सत्याग्निपिष्टात्मक सूर्य से विनिर्गत वायव्य अग्नि की आगन्ध दक्षिणाकाश में प्रधानता रहती है। अतान्ति दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर आया करता है, तो अतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले अतान्ति में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर जाने वाले अतसोम की आहुति होना अनिवार्य है। इसी आहुति से अतान्ति अतसोम के रासायनिक सम्मिश्रणमक याग—सम्बन्ध से, विसिस्मन्ध से अन्तर्धर्म सम्बन्ध से उस उपवाग्मक अपूर्वमात्र का जन्म होता है, जिसे अतान्तिमोम के सम्बन्ध ने ही 'अतु' कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि अतु में अग्नि-मोम दोनों का ही सम्बन्ध है, तथापि एक विशेषपरिष्कार के अनुरोध से हम इस अग्निप्रधान ही करेंगे। सौरप्रबन्ध्याग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की दासवृद्धि होती है। अतसोम की दास-वृद्धि अस्वामाधिक है। प्रविशंर (क) अवस्था में अग्नि अवश्य अतु (मोम) रूप में परिखत होजा-यगा परन्तु—'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' सिद्धान्तानुसार नित्य काशानुगत नित्यवायव्य अतसोम आगम प्राणरूप मे मत्ता असुरण बना रहेगा। सोम के इसी नियम धर्म का लक्षण में रमते हुए वैज्ञानिकों ने इस की दास-वृद्धि नहीं मानी है। 'अतुं मात्यति क्रिञ्चन—'अतु भूमिरित्यं जिता' इत्यादि अवयवसमिहा ग्वानुमार व्यापक, सत्यपिष्टाचारमूत अतनाम की प्रतीयमान दास-वृद्धि बरतुत पार्थिव अतान्ति की ही दास-वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप ही अन्तरम ही है। अतएव वमन्तादि पदार्थों के निश्चयन में—'अग्निहृणा वमन्तो भवन्ति, अतिराग्न पदा भान् गृह्णाति अतिराग्न उरु, अग्निहृणा शीला भवन्ति, हीनज्ञा गता भवन्ति, पुन पुनरावरायेन शीला भवन्ति इत्यादि ही अग्निहृणों का ही उद्घाम नियम (प

इय-उत्तर) वतलाया जाता है। तत्पश्चात्, अतामि ही स्वोद्भाभ-निर्गम से तत्
 अतुरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर भुक्ति का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ
 है कि—“अन्त्यो वा अन्तवः”—“अन्त्यो हेतुः अन्त्याभितप्त-अन्तिभित्तवः”—
 (राठ० ६/०/१/३६)।

प्रकृतमनुमगम। पार्थिवअग्नि भी सौर अग्निवत् सत्य, अतः, भेद से दो
 भागों में विभक्त है। मूकन्त्र से बड़ा पार्थिव वह अग्निरोष्मि, जो नियतपथ से सर्वथा
 अतुमाव से ‘अथो न देववाहन’, इत्यादि मन्त्रवर्धनानुसार अभ्यस्वरूप में परिणत
 होता हुआ धुलोक की ओर जाया करता है, सत्याग्नि है। इस सत्याग्नि से पार्थिव
 वर्णों का कोई उपकार नहीं होता, प्रत्युत अपकार होता है। आता हुआ
 यह सत्याग्नि तो इव्यवाहन है, पार्थिव रसमात्राओं को स्वर्ग में प्रतिष्ठित कर
 धुलोकस्य सावित्रमाणाग्निमय, सौर वेववाहों में आहुति देने वाला है, पृथिवी के
 पानी को धुलोक में बरसाने वाला है। इसी सत्याग्नि के लिए—‘अग्निर्वा इतो
 इष्टिमुदीरयति’ इत्यादि कहा गया है। दूसरा है—अतलावय पार्थिव अग्नि।
 भूप्रदेश से सत्र ऊम्मा (गर्मी) निकलती रहती है। कृपादि शक्तों (गड्डों) में
 इस ऊम्मा का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है।
 अपितु अनियमितरूप से (अतुरूप से) वह सत्र ओर से निकलता रहती है। अतवम्मा
 ऊम्मात्मक वह पार्थिव अतामि ही आन्तरिक्ष पानी के आकर्षण का कारण बनता
 है। जबतक यह ऊम्मा चरमसीमा पर नहीं पहुँच जाती, तबतक पानी नहीं बरस
 सकता।

पृथिवी से सत्याग्नि द्वारा धुलोक में पहुँचने वाली जलमात्रा सू-रंरन्ध्र
 स्थित वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आन्तरिक्ष जलमात्रा में आन्तरिक्ष
 अत-विस्फोम का समावेश होगा है। अतः का लभान्तर वह सोम ही उस जलमात्रा
 का पोषण करता है। आन्तरिक्ष पञ्चम वायु, पार्थिव अतामिस्तद्वत् ऊम्मा से
 उत्पन्न भूमात्मक वायु, सौर सत्रोमय प्रवृत्त ग्योतिर्भाव आन्तरिक्षमुख पार्थिव
 जलमात्रा इन सब (वायु, भूम ग्योति, सक्षित) तत्वों के समन्वय से आन्तरिक्ष
 में जो अपूर्व भौतिक पदार्थ उत्पन्न होता है, वही ‘अभ्र’ कहलाया है। अप्- (अच्छ) को
 अपने गर्म में रखने के कारण ही ‘भूम-ग्योति-सक्षित-मस्ता’-समन्वय लक्षण
 वह अपूर्वभाव-‘अभ्र’ कहलाया है। ‘अभ्र’ कवल अभ्र है, जलधारण करने वाला
 मात्र है। इस संज्ञा नहीं होती। ज्ञाति होती है—‘मेघ’ से। जलकोशात्मक वहल
 अभ्र है जलवर्षक वहल अपने मेहन धर्म से मेघ है। जब तक वहल में भरमातो-

जाता है। सप्तवर्ष (रज) का कारण एकमात्र वेद सूर्यरश्मिवाँ हैं, जिन के प्रति-
फलन स वायुगमित आपोमय धनुषधरातल सप्तवर्षात्मक बन जाता है। बीघ परा-
ल्ल में सेसृष्ट रश्मियों का उसी प्रकार बकोमाव हो जाता है, जैसे—पानी में सीपी
भी प्रविष्ट लकड़ी अर्धगर्म में वक्रित प्रतीत होने लगती है, जिसका त्रिमुखाकार-
द्वैलम्बित्व में भी प्रत्यक्ष किया जासकता है। यही वक्रप्रक्रिया 'सम्बन्ध' नाम से
व्यवहृत हुई है। सम्बन्ध स रश्मिमुक्त सप्तवर्षाकत्रसद्विस्म स्वेतवर्ष का विराकलन हो
जाता है, एक क-सात वर्ष होजात हैं। यही सप्तवर्षाप्रतीति का मूलकारण है।
पञ्च-आप-वायुधरातल इसी रश्मि-सम्बन्ध से सप्तवर्षात्मक इन्द्रधनुष का जनक
बनता है। रश्मिमुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्बन्ध से यह धनुष तन्नाम से व्यव-
हृत हुआ है। पञ्चमात्मक इन्द्रधनुष पुनित-रश्मिभावात्मक बनता हुआ आत्मवि-
रोधी है। अतएव तदन्त-अर्धवाम-आदि सूर्यों की भाँति इन्द्रधनुषधरातल का भी
निषेध हुआ है। इन्द्रधनुषक पञ्चमात्मक इसी तार्त्त्विक स्वल्प का विरूपेण करत
हुए भवि न कहा है—

माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्या ववातिश्चरति धित्रमायुधम् ।

तमन्नेन वृष्ट्या गृह्यो दिवि पर्जन्य इप्सा मधुमन्थ ईरते ॥

—श्रुत्सं १६१४ ।

वृष्टि स पहिल जो आप्य वायु प्रवाहित होता है, यही 'पुरोवात वायु पञ्च-
ई'। यही प्रतीत्य माया में 'मांसून' कहाया है। यही पर्जन्यवायु-वायुर्वे वृष्ट्या
इष्ट क अनुसार जलवयक माना गया है। पर्जन्यवायु करता क्या है ? इस प्रश्न
का उत्तर है—मयत्रयी की प्रवृत्ति। वायुप्रेरणा स पार्थिवानि स विनिर्गत घूम (वायु)
आन्तरिक सलिलमात्रा-रश्मिगत तत्रोमात्रा-लकर पनमाव में परिणत हो जाता
है। उस घूम-धूम जब तक त्रिभरात्मक नहीं बन जात, तब तक वृष्टि नहीं होसकती।
सब स ऊपर का मयानरुद्ध आन्तरिक शीतधम्मा सोमागमन का निरोधक बनता

० त्रिध सूर्यरश्मिगत सप्तवर्षाकत्र-रश्मिगत का प्रपञ्च भवे जातीय महर्षियों की वि-
श्व बहिर् वा शास्त्रात् ज्ञान-परिष्कारकण द्वारा ज्ञातन से वह भवे अथ सप्तवर्ष वैज्ञानिक
'मूद्र' की जित रहा है। कहा जाता है—मूद्र ने ही वीरकृष्ण बह्मि हृदिक वह प्रभावित
किया कि धीरवक्त्र में अनेक रत्नों का सम्यक् है, जब कि तपस्विकण अनेकान् अहीराव
मित्र' में मूद्र से काली रत्न बहिर् पूर्वक से वीरित, एक प्रभावित बन पुत्र का-काम्य
त में बतः ।

है। मध्य का स्तर उपरिस्तर की स्तम्भाली बनता है। सर्वांग स्तर (अग्र) जिस में अक्षमात्रा मरी हुई है; पार्थिव अणु के सम्पर्क से ज्युत-होता हुआ पञ्चम मोदना से बरस पड़ता है। पञ्चम का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा—‘यज्ञाग्निं यमैर्वति पञ्चमम्’। पार्थिव अग्निघनित यम ही तो पञ्चम्यात्मक, यम का अनन्त वस्तु है। इसी लिए तो पञ्चम्य बिष्णुरूप से भी उपस्तुत है (हेलिय-पञ्चमभारत—१।१५। ४४)। यज्ञाग्निद्वारा उत्पन्न इसी पञ्चम्यविज्ञान को ज्ञाप्य ज्ञान कर भुति करती है—

‘तपो वा’ इति । अग्नेर्वै यमां जायते, यमादग्र, अभावावृष्टिः ।

अग्नेर्वा यता जायन्ते । तस्मादाह ‘तपो वा’ इति” ॥

—इतः भा० १।१५।१०।

उक्त पञ्चम्य-विज्ञान को ज्ञाप्य में रखते हुए ही ब्राह्मण की १८ वीं कथिका का सम्बन्ध कीजिए। पञ्चम्यद्वारा उत्पन्न यमस्तरों से सोम का निरोध होजाता है। पञ्चम्यरूप पार्थिव अणु को प्रवृद्ध होने का अवसर मिल जाता है। सौम्य-अणु के निष्ठाभात्मक प्रवृद्धकाङ्क्षानुसार ही पार्थिवान्नि अपेक्षाकृत प्रबल रहता है। वह अतिरिक्त उद्दमाबाधना अणु (अमस) ही तो वर्षा की बनती बनती है, जिसका यम परम्परया पञ्चम्य को ही ज्ञान है। ‘ओमाचम’ इत्याकारक वेदमात्र (अग्नेय-मात्र) के सम्बन्धरूप ब्राह्मण से पुरोवात (पञ्चम्य) का प्रादुर्भाव होगया। ‘अस्तुभीपद्’ सहाय वेदमात्रसम्बन्ध से पञ्चम्य व्यापार-द्वारा—यम अन्ति अमस्तरों से आकारा जागया। अब आगे जाकर वर्षा से पहिले, बिद्युत्, स्तनयितु, ये धर्म और उत्पन्न होते हैं।

पुरोवात के द्वारा आकाश में समझावित अमों के पारस्परिक संपर्क से ही बिद्युत् (ज्योति), और स्तनयितु (रश्म्यध्वनि) उत्पन्न होती है। भुति ने प्रथम स्थान बिद्युत् का रक्ता है, द्वितीय स्थान स्तनयितु का माना है। इस का एकमात्र कारण दर्यास्थिति ही है। हमें पहिले-बिद्युत् प्रतीति होती है, अनन्तर रश्म्यध्वनि सुनाई पड़ती है। तत्पश्चात् स्थिति यह है कि, पहिले स्थान स्तनयितु (ज्वनि) का है, दूसरा स्थान बिद्युत् का है। अत्यन्त में हेलिय। एक रक्त सरोवर के इस ओर पर लड़ा हुआ शिखा पर बस फटकारता है। हम इस क्रिया का सरोवर के उस ओर पर लड़े हुए साक्षात्काराकर रहे हैं। फटकार के, साथ ही ज्वनि का आ निर्माण होता है। ज्वनि संपर्कसहजमा है। परन्तु प्रतीति ज्वनि की होती है, संपर्क (फटकार) के कुछ काल पीछे। वायु के सहयोग से संपर्कजनित अग्निव्यापार के द्वारा

मात्मक ब्रह्मपाण के सहयोगी वृष्ट्यवरोधक 'नमुषि' (न मुञ्चति जलम्) प्राण का प्राप्ताम्य रहता है, तब तक वह बरस 'अन्न' कहलाता है। अन्नपरावर्तित सूर्यरश्मियों और इन्द्रतस्थ के वज्र हैं। इस विषय इन्द्र के वज्रप्रहार से (यस्मिन् अन्नोपप्राण के समावेश से), तथा पार्थिव ऊष्मानुगत वासव इन्द्र के व्यापार से (पार्थिव ऊष्मा के समावेश से) जब अन्नरोधक 'नमुषि' प्राण का प्रविवर्धन दृढ़ जाता है, तभी वह अन्न 'मेघ' रूप में परिवर्तित होकर वृष्टि करता है। इस प्रकार शुक्लोक्त मयवेन्द्र, मूलोक्त वासवेन्द्र के वज्रप्रहार से नमुषि अक्षुर का जब शिरःच्छेद हो जाता है, तभी वृष्टि होती है। निम्न लिखित मन्त्र इसी रहस्य का विस्तेषण कर रहा है—

(१)—“अपां केनेन नमुषेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः ।

विष्णा यदक्षयः स्पृशः ।” ऋक्स० ८।१४। ३।

(२)—“इन्द्रश्च य नमुषिवाक्षुर समदधातन्न नो नक्तन्न
दिवाहनन्नात्रेण न शुष्केयेति । तस्य व्युष्टायामनुदित
आदित्येऽपां केनेन शिरोऽभिनत्” —सांख्यमहाभा०
१२९।८।

पार्थिव ऊष्मा भीषे से ऊपर आ रही है। ऊपर अन्तरिक्ष में वायुपरावर्तक में अन्नात्मक बारिशलों (बरसों) में जल मरा हुआ है। जब पार्थिव ऊष्मा 'वह' पहुँच रही है, तो इसके द्वाारात्मक-कण्डूवण धम्म से अन्नस्थ जल बरस क्यों नहीं पड़ता ? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, यह ठीक है कि—पार्थिव अग्नि (ऊष्मा) ऊपर आ रहा है। परन्तु साथ साथ ही आन्तरिक विद्युत् शक्ति पृथिवी की ओर आ भी तो रहा है। जिसनी मात्रा में ऊष्मा (गर्मी) ऊपर जाती है, उतनी ही मात्रा से सोम (सर्प) नीचे आ रहा है। सममात्रा से आन यास सोम के सम्बन्ध से तन्मात्रासमवृत्ति पार्थिव अग्नि का द्रवण-व्यस शान्त हो जाता है। पञ्चमूर्त्य आन्तरिक अन्न मयस्वरूप में परिवर्तित नहीं हो पाता अतः वृष्टि नहीं होती।

आश्चर्यक यह है कि आत द्रव शीतगुणक आन्तरिक अन्नसोम के, तथा आत द्रव पार्थिव अग्नि के मध्य में किसी ऐसे मध्यस्थ का समावेश होना चाहिए जो आन्तरिक सोमजल का अपने ऊपर अवशोषण करे। उस अवस्था

में पार्थिव-ऊष्मायत्न एक तो सामान्यरोध से प्रयत्न हो जायगा, दूसर मन्मावरण जनित संकोच से भी उसे बल मिलेगा। परिणाम स्वरूप उभयबल के समावेश से अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती 'बुद्धि' वह ऊष्मा अवश्य ही सौर इन्द्र के सहयोग से अन्न को मय रूप में परिणत करेगी, 'अन्नेराप' सिद्धान्त परितोष हो जायगा, पानी चरम पड़ेगा।

समानान सामयिक है। परन्तु उस मन्मावरण का जन्मदाता कौन बने, प्रसन्न का उत्तर एकमात्र पाठकों का सुपरिचित 'पर्जन्य' नाम ही है। पालत-पूर्वक 'पृ' धातु ('पृ' पालतपूर्वबो-अ० प० स०) से, अथवा तो सेचनार्थक 'पृषु' धातु ('पृषु' सञ्ज्ञे-अ० प० से०) से (अ० ३।१०३ द्वारा- 'पर्येति' निर्बचन से) 'पर्जन्य' शब्द तिप्पन्न हुआ है। पर्जन्य उस वृषक वायुविरोध का नाम है, जिस का स्वरूप आप्यप्रायात्मक सौररश्मिगर्भित इन्द्र से सम्पन्न हुआ है। अतएव इन्द्र को भी पर्जन्य कहा जासकता है। 'पर्येति-सिद्ध्यति-मयसञ्चयद्वारा बुद्धि ददाति' स मयसञ्चयद्वारा बल चरसाने वाला इन्द्रप्रायश्चर्मित पुरोवाह आप्य-वायुविरोध ही 'पर्जन्य' है। 'पर्जन्यो मेघराजोऽपि, ध्वनश्मृद्-शब्दयो', (विरहकोश)- 'पर्जन्यौ रसद्वन्द्वौ' (अमर) इत्यादि कोशवचन भी इसी निर्बचन का सगर्भन कर रहे हैं। अक्षरसंहिता के २ मन्त्रद्वयान्तर्गत ब्रह्मन्त्रात्मक 'अध्वजावह' सूक्त में पर्जन्य के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का विरलेषण हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि पुरवाह इन्द्र का पक्षमा वर्षणानुशूल गन्धन-तर्जन, वृष्टिपात, आदि सभी वृष्टिकर्म इसी पर्जन्य पर अवलम्बित हैं। जिस समय अपने गन्धन-तर्जन के साथ पर्जन्यदेवता नमाम ब्रह्म में मयरूप से व्याप्त होत हुए वृष्युष्मन्त बनत हैं, उस समय सम्पूर्ण पार्थिव चर-अचर प्रजापति में एक प्रकार का उत्साह छा जाता है। एतद्वि-

यत् पर्जन्य कनिष्ठश्च स्तनयन् इति दुष्कृतः ।

प्रसोढ विश्व भादये यत्किञ्च पृथिव्यामपि ॥ अक्ष० ३।२३।६ ।

यस्य प्रते पृथिवी नन्नमाति यस्य प्रते क्षप्यन्त्रमूरीति ।

यस्य प्रते प्रोषधीर्विद्यरूपाः न न पञ्चप महि शर्म यच्छ ॥

अक्ष० ३।२३।६ ।

गुप्तसिद्ध इन्द्रधनुष की उत्पत्ति का प्रधान कारण भी यही पञ्च-य वायु है। यदि म पालत, अथवा तो पीछे आकारों में सप्तदश्यात्मक 'धनुष' का प्रत्यक्ष किया

उत्पन्न शब्द-सरोवर प्रदेश में व्याप्त आध्यात्म-वीचियों (साहसों) के आभारपर प्रतिष्ठित होकर ही मोक्षेन्द्रिय पर आता है। यही इसके आगमन-विलम्ब का कारण है। जलकणमिश्रित वायु से अग्निमयी शब्दध्वनि अचरुद्धवीर्या बन जाती है। एवं मेव मुगुणही (तोष) कूटने पर पक्षित चमक दिखलाई पड़ती है, अतन्तर शब्द सुना जाता है। बिद्युत् में तीव्रगति है, शब्द वायु-स्तराकर्षण से मन्दगति है। अतएव पहिले भी उत्पन्न शब्द विलम्ब से सुनाई पड़ता है पीछे भी उत्पन्न, किंवा साव ही उत्पन्न बिद्युत् तत्काक प्रतीत होजाती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। दृग्मयिषि बुद्ध भी हो, वस्तुस्थिति यही है कि, पहिल संघर्ष से शब्द, (स्वनविलु), अतन्तर ओति (बिद्युत्) उत्पन्न होती है।

१. पूर में मध के तीन स्तर बतलाए गए हैं। यह त्रिस्व शूल मान है। वस्तुतः आकारस्थ सप्तमस्त्व-स्तरों के कारण मध के भी सात ही स्तर होत हैं। मध्य-मध्य स्व वायुस्तरों के-निगेमन से ही मेघस्तरों का परस्पर संघर्ष होता है, इसी संघर्ष से बिद्युत् उत्पन्न होती है, इसी संघर्ष से-‘वायु’ कात्, शब्दस्त्वत् इत्यादि प्रातिशाक्य सिद्धान्तानुसार स्वनविलु (शब्द-गङ्गा) उत्पन्न होती है। मधस्तरों का उच्छ्वावप जैसा आकार होता है, तत्संघर्ष से उत्पन्न बिद्युत्-स्वनविलु की भी तत्सदृश ही उच्छ्वावप आकृतिर्प्राप्ति होती है। उच्चस्तरसंघर्ष से उत्पन्न बिद्युत्-स्वनविलु अपो-ऽवस्थित मधस्तरावगच्छ मे दृष्टि-भूति का विषय नहीं बनती। उन का अधः स्तर प्रदेशों में ही लय होजाता है। अपो-वस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न वि० स्त० का ही प्रत्यक्ष, एवं मधस्त्व बुद्धा करता है। सर्वोपरिस्थ मधस्तर, एवं द्वितीय (मध्यस्त्व) मधस्तर के मध्यम वायु के निक्षिप्त आन से सर्वोपरिस्थ स्तर मध्यम स्तर पर गिर पड़ता है। संघर्ष हो पड़ता है। इस मध्यम संघर्ष से उत्पन्न वि० स्त० की प्रायः एकमात्र प्रतीति होती है। साथ ही सर्वाध स्थित मृतीय मधस्तरावरण के कारण हम बिद्युत् का भूषण पर पाठ भी नहीं होता। यदि संघर्ष आत्मस्थित होता है, तो यह भी गिर पड़ती है। परन्तु सवान स्थित मधस्तर के संघर्ष से या बिद्युत् उत्पन्न होती है, वह अवश्यमव भूगर्भ में आ उदरता है।

संघर्ष से उत्पन्न ओतिप्राग संघर्ष के तारलम्ब से उम्मी प्रकार कमी कमी पड़ने उन्का आवृत्ति की भी रूपति हो जाता करता है, जैसा कि आन्तरिक पञ्चो-पञ्चारात् (४६) मधस्तरों के पारस्परिक संघर्ष से बज्र, उन्का शिष्टया, तारा य पार प्रकार के आनि-पुञ्ज उत्पन्न होत रहत हैं। इत्यादिबिज्ञान के अनुसार जैसा

भूगर्भ में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ईशान-नैऋत्य-आग्नेय-वायव्यादि दिक्-प्रति दिक् से चार-सधुर-विष्ठादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं, एवमेव आकाश में दिक्-प्रतिदिक् मेघ से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायु-स्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर आ रहा है, दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन माग विभिन्न है, तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा, तो संघर्ष से श्वोति उत्पन्न होजायगी। यत्किञ्चित्-सम्पर्कमात्र से उत्पन्न नहीं सुब्रह्मोति 'तारा' है। यदि संघर्ष में जला विन्य है, तो श्वोति प्रवृद्ध है। यही सामान्यभ्याति 'विप्लवा' है। यदि दोनों के प्रान्त भाग एक दूसरे से आक्रान्त (दब) होजाते हैं, तो अविरापरूपेण प्रवृद्ध ज्वाला उत्पन्न हो जाती है। साथ ही प्रान्तभागाक्रान्ति के अनुपात से बड़ी दूर तक वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छसुप्त माना गया है। यही 'उल्का' है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के माग अमिश्र हो जाते हैं, दोनों का सर्वात्मना सघर्ष हो पकता है। इस संघर्ष से भयानक प्रविचलित के साथ जो श्वोति-पुञ्ज प्रयत्न होकर अपने आस्थितिक वेग से मूच्छ पर आकर ठहरता है, वही 'वज्र' कहलाया है। साथ ही अधःप्रदेशात् वायुस्तर मार्गबरोच होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ कन्दरा, भूगर्भादि में प्रविष्ट होकर तबन्धिज्ज भूप्रदेश को कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध आग्नेय अरुण (आप्य), ऐन्द्र (इन्द्र), वायव्य, यदुर्विच भूकम्पों में से चौथा वायव्य भूकम्प कहलाया है। पुरोवात, अभ्र, विद्युत्, स्तनयित्तु, वषा इन क्रम से वृष्टिक्रम में (जलवर्षक मयों में) इन पाँचों का रहना अनिवार्य है। त्रिन्तर ही इस वज्रावयव मय-सत्ता का कारण है। ऐसा मय निरचयेन कृप्यवर्ण होता है। क्योंकि ऊर्ध्व-न्तरों के आवरण से छीर प्रकारा आस्थितिकरूप से अचञ्चल हो जाता है। इसी आधार पर भुवि ने कहा है—“धामअद्विच न्यु ये मूत्वा वर्षति (तै० सं० १४।१०)”—“उल्को मवति। प्लवै वृष्टै रूपम्”—(तै० सं० २।१८)। पारमस्य आप्य प्राण अम्बरात्मक है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्षावतु काममात्र की प्रतिष्ठा मानो गई है। गन्धर्व प्राण के गन्धर्व मे मगीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा दि-सर्व भूतव' के अनुसार यही सम्बत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोक कल्पान्तों में भी वषा

●-प्रायो भव वरपा रुत । (ध्रुव०) ।

ओ (उ) रुकट कान्ति नरेत (ध्रु) ।

अम्माधर नग प्रमथ कीमी अन सब वरपत ।

चमरुत दामिनी पताक रुका मया मशनी रव ।

कृष्ण वरन मरु मेघ गगन मरयो समन्तात (आपो०) ।

का यही स्वरूप उपर्युक्त है, जिस का कृष्णपर्जन्य, विद्युत्, स्तनयित्, आदि रूप से अब तक विरक्षेपण हुआ है। यही वह प्रासङ्गिक वृष्टिविज्ञान है, जिस का प्रकृत आभा बल-प्रत्याभावण कर्म के साथ निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जा रहा है।

बताया गया है कि, अभ्रसमाप्तावन के अनन्तर 'यज्ञ'—'ये यज्ञामहे' इत्याकाराकारिता यजनानुमति, यजनप्रवृत्तियों से क्रमशः विद्युत्—स्तनयित् उत्पन्न हो जाती है। सर्वान्त में 'बीपद्' इत्याकारक यजनकम्मारम्भ के साथ साथ पानी घरसने लगता है। इस प्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राग्बोध अस्त्विजों (प्राग्बोधवताओं) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्मों से वृष्टिकर्म सञ्चालित है। जिस यज्ञमान को वृष्टि अपचित हो, वह संख्या-सम्पत् से समतुलित 'योभावय' 'अस्तु बीपद्'—'यज्ञ'—'ये यज्ञामहे'—'बीपद्' इन पाँच व्याहृतियों के प्रयोग काल में अस्त्विजों को क्रमशः 'पुरोवात'—'अभ्र'—'विद्युत्'—'स्तनयित्'—'वपाकर्म' इन पाँच अधिदैविक वृष्टिकर्मावयवों के मानस संकल्प के लिए प्रेरित करे। निरचयेन इस भावनामात्र से वृष्टि होगी—'वपति हैव, यत्र—यत्रैव अस्त्विज संविद्वाना यज्ञेन वरन्ति'। और—'यज्ञाद्भवति यज्ञस्य' वचन चरितार्थ होगा। ब्राह्मण की १८, १६, १८ दो कण्डिकाओं में काम्यकर्मलक्षण वृष्टि के द्वारा मंसित भाषा में इसी वृष्टिविद्या का विवर्तन बताया गया है ॥ १८, १६, ॥

इति—वृष्टिविज्ञानम्



आभावण-प्रत्याभावण कर्म वह महत्पूज्य कर्म है, जिस में आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक, तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जा सकता है। सम्बत्सरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविककर्म है। इस का समष्टि, व्यष्ट्यात्मक हो विद्यत है। अटारात्र-वह-अनु-अवन सम्बत्सर, ये पाँच एक सम्बत्सर की पाँच व्यष्टियाँ हैं। स्वयं सम्बत्सर, और उनकी मूलप्रतिष्ठारूप सप्तवृषप्रजापति, दोनों समष्ट्यात्मक सम्बत्सर हैं। पञ्चव्याहृतियों में व्यष्ट्यात्मिका सम्बत्सरसम्पत्ति का, पञ्चव्याहृतियों के मग्न अक्षरों से व्यष्ट्यात्मिका सम्बत्सर—सम्पत्ति का संघट्ट करन द्वारा अस्त्विज लोग पञ्चव्याहृत्यात्मक आ० प्र० कर्म हैं। यज्ञमान के मातृपयस को आधिदैविक मग्नति से युक्त कर दत्त है, जिस का १६, १७, इन दो कण्डिकाओं में विरचण हुआ है। अहमूत नवव्याहृत्यात्मक शुभावापन कर्म में देवात्मा में नव आध्यात्मिक के प्राणावापन द्वारा आध्यात्मिक—सम्पत्ति का संघट्ट कर किया जाता

भूगर्भ में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-इशान-नैऋत-आग्नेय-वायव्यादि दिक्-प्रति-
 दिक् से 'सार-मधुर-विष्ठादि' बलशाला प्रवाहित रहते हैं, एवमेव आकाश में दिक्-
 प्रतिदिक् भेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायु-
 स्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है, दूसरा उसी वेग से पश्चिम से
 पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन भाग विभिन्न है, तो शान्ति है। यदि
 दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा, तो संघर्ष से ज्योति उत्पन्न होजायगी।
 यत्किञ्चित्-सम्पर्कमात्र से उत्पन्न यही छुट्टम्योति 'तारा' है। यदि संघर्ष में बला-
 चिन्त्य है, तो ज्योति प्रवृद्ध है। यही सामान्यज्योति 'विष्ण्या' है। यदि दोनों के प्रान्त-
 भाग एक दूसरे से आक्रान्त (घृ) होजाते हैं, तो अतिराक्तमेव प्रवृद्ध ज्वाला
 उत्पन्न हो जाती है। साथ ही प्रान्तभागाकान्ति के अनुपात से बड़ी दूरतक वह
 प्रकारापूर्व्व जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुण्यसम माना गया है।
 यही 'ठण्का' है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के भाग अभिन्न हो जाते हैं, दोनों
 का सर्वात्मना सघन हो पड़ता है। इस संघर्ष से भयानक प्रतिज्वलि के साथ जो
 ज्योति-पुच्छ प्रबल होकर अपने आत्थन्तिक वेग से भूपृष्ठ पर आकर ठहरता है, वही
 'वज्र' कहलाया है। साथ ही अमज्जदेरास्त्र वायुस्तर सामांयरोध होने से भूविण्ड की
 ओर अनुगत होता हुआ कन्दरा, मृगशीर्षि में प्रविष्ट होकर तत्त्वच्छिन्न सूपदेश को
 कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध आग्नेय अरुण (आप्य), ऐन्द्र (मह),
 बावन्व चतुर्विध भूकम्पों में से चौथा वायव्य भूकम्प कहलाया है। पुरोवात, अभ,
 विधुव, स्तनक्तिनु, वर्षा इम क्रम से वृष्टिकर्म में (अलवर्षक मयों में) इन पाँचों
 का रहना अनिवार्य है। त्रिन्तर ही इष्ट पञ्चावयव भेद-सत्ता का कारण है।
 ऐसा मय निरचयन कृप्यवर्ष होता है। क्योंकि ठण्-स्तरों के आवरण से सौर
 प्रकारा आत्थन्तिकरूप से अवकट हो जाता है। इसी आधार पर भुवि ने कहा
 है—“आमज्जविष लक्षु वै भूत्वा वर्षति” (तै सं १।४।१०)—“कृप्यो मवति।
 प्लव्हे वृष्टवै रूपम्”—(तै सं १।१।८)। पारमेष्ठ्य आप्य प्राण अप्सरासम है,
 आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्षाश्चतु काममात्र की प्रतिष्ठा मानी गई है।
 गन्धर्व प्राण के सम्बन्ध से संगीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा हि-सर्वं श्रुतव'
 ८ अनुसार यही सम्बत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोक कसंगीता में भी वर्षा

●-आपो भव वरपा रुत । (घृ ४०) ।

ओ (उ) स्कट कान्ति नरेस (घृ) ।

अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब वरपत ।

चमकत दामिनी पताक लका भयो ब्रह्मनी रव ।

कृष्ण वरन मधुर भेष वगन मरषा समन्तात् (आपो०) ।

है, जिसे धानकर। तद्भावात्पूर्वक। ध्यामावर्ण-प्रस्थाभावात् कर्म करने वालों के लिए यह पारिव्रज्य कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥ २० ॥ — १ ॥ १ ॥ १ ॥

इति—विवेचनाप्रकरणम् (६) । ५५५

समाप्रवृत्तेर्दं सुगुणाशयम् । १ १ १ १ १

●स-प्रवृत्त्यापाठः (अर्थावसोपानुगतः)—

। (अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिभाष्यात्मके प्रयाजब्राह्मण प्रथमं ब्राह्मणम्

१-प्रयाजवन्धुः

‘ऋतवो ह वै प्रयाजा ।’ तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ ‘देवाश्च वां असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे-’ एतस्मिन् यज्ञे प्रजापेतौ पितरि-’ सम्बत्सरे-’ ‘अस्माकमयं भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति’ इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त-’ धाम्यन्तश्चेह, त-’ एतौन् प्रयाजान् ददृशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्बत्सरं प्राजयन्, ऋतुम्यं सम्बत्सरात् सप्तानन्तरायन्, तस्मात् प्रजयाः । ‘प्रजया,’ ह वै नामैतत्-यत् ‘प्रयाजा’ इति । तथा एवैव एतैर्ऋतून्

६ प्रस्तुत शतपथ-विद्वानभाष्य में अक्षरम्भ ॥ 'निमुञ्ज' पठ्य 'प्रवृत्त्य' पाठ का भ्रम का प्रकार के मूलपाठों का समावेश हुआ है। मन्त्र-पारायणपाठ ही निमुञ्ज पाठ है। पठ्य अर्वाचिनाभाष्यक अक्षर पाठ 'प्रवृत्त्य' पाठ है। 'म्वर' शिष्ट अभी हमें प्राप्त नहीं हो सका है। अतएव प्रस्तुत अक्षु में कवस 'प्रवृत्त्य' पाठ का ही समावेश हुआ है। हाँ, अगल अक्षु में अक्षर नेमुञ्जपाठ का भी यथापूर्व समावेश होता है। सम्पादक—

है, जिसका ५ वीं करिडका में उल्लेख हुआ है। रोप यह जाता है—आभिमौलिक रूप फल।

आभिमौलिक रूप फल की प्राप्ति चौ (आकाश), और पृथिवी, इन दो विषयों से होती है। आकाशोपलब्ध पञ्चमयत्वता समग्र पर वृष्टि करते हैं (निकामे निकामे न पञ्चमो वर्पेतु), यही आकाशात्मक आभिमौलिक उर्ध्व पर्व का अनुग्रह है। आकाश की १८, १९, इन दो करिडकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २० वीं करिडका में पृथिवीपुण्ड्र आभिमौलिक अर्ध पर्व के रूपक का विवरण कराती हुई ही सूति कहती है कि, जिस प्रकार 'भोवावन' आदि पाँच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकर्म का सञ्चालन कर रहे हैं, एवमेव इन्हीं व्याहृतियों से (व्याहृत्प्रात्मक देवाह्वान—प्रदान—माधान ब्रह्मण यज्ञ से) व विराहगीरूपधरा पृथिवी का रोहन किया करते हैं।

रोहन कर्म में गौ का सामीप्य बड़े बत्स को (पावसने के लिए) खोलना, बत्समुख का स्नान के साथ सम्बन्ध करना बच्चे को इटाते हुए दाहनपात्र लेकर रोहने के लिए समग्र हो जाना, एवं रोहना, ये पाँच पर्व हैं। पाँचों व्याहृतियों का क्रम इस प्रकार है—रोहनकर्म—पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध है। पार्विष अग्नि ही विराद् गौ है। इसी से पार्विष अग्निज्ञान सञ्चालित है, जैसा कि, द्वितीयकाण्डा न्यगत 'अग्निहोत्र आह्वयविज्ञान' में विस्तार से बताया जा आता है। पार्विष प्राणायाम के ६-१५-२१ मेघ से तीन विषय हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बताया जा चुका है। त्रिवृत् स्तोमापुण्ड्र पार्विष अग्नि गार्हपत्य है, यह एक कल है। पञ्चवराजोमापुण्ड्र आन्तरिक (पार्विष ही) अग्नि विध्य है। अष्टविष मासिक सर्पमास के सम्बन्ध से यह अहंकल है। एकविराहोमापुण्ड्र दिव्य (पार्विष ही) अग्नि आह्वनीय है, यह एक कल है। इस प्रकार स्तोमात्मिका महापृथिवी के पृथिवी—अन्तरिक—गीरूप तीनो स्तोमलोको के मेघ से पार्विष गीरूप अग्नि के १-८ १ मेघ से १० पर्व हो जाते हैं। यही वराह विराद् अग्नि है। वराह विराद् अग्नि से समग्रित होने से ही गीरूप पार्विष अग्नि 'विराद्' कहा जाता है। इसी के सम्बन्ध से पितृ (मृत) आत्मनय भूमि विराद् गौ कहा जाता है। विराद् गौ का बत्स है—मातरिका नामक वह भूवाहु, जो अपने व्याप्ति, एवं सबरसधर्म से 'भूमिवराह' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी बत्स (बाहु) के सम्बन्ध से पुत्राकल प्राणदेवता विराहगी का रोहन करने में समर्थ रूप है। बाहु के द्वारा ही पार्विष रसमात्राओं का दाहन होता है। यही विराहगी का रोह

है, सिधे, जानकर। तद्भाषनापूर्वक आभाषण-प्रत्याभाषण कर्म करने वालों के लिए यह पार्ष्व कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥ २० ॥ - १ - ॥

इति—विवेचनाप्रकरणम् (६)

समाप्तव्येर् अग्राह्यम् ।

● छ-प्रवृत्त्यापाठः (अर्थावबोधानुगतः)—

(अथ प्रथमकारणे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थमपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१-प्रयाजवन्धुः

। ऋतवो ह वै प्रयाजा । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पथिरे-एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतो पितरि सम्बत्सरे-अस्माकमय भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त आग्यन्तश्चेह, त एतोन् प्रयाजान् ददशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्बत्सरं प्राजयन्, ऋतुम्य सम्बत्सरात् मपत्नानन्तरायन् तस्मात् प्रजयाः । 'प्रजया.' ह वै नामैतत्-यत् 'प्रयाजा' इति । तथा एवैव एतैर्ऋतून्

६ प्रस्तुत शतपथ-विधानभाष्य में आरम्भ में 'निर्भुज', एवं 'प्रवृत्त्य पाठ' का भद्र स हो प्रकार के मूलपाठों का समावेश हुआ है। सम्बर-पारायणपाठ ही 'निर्भुज' पाठ है। पञ्च अर्थावबोधायक अम्बर पाठ 'प्रवृत्त्य' पाठ है। 'म्बर' शब्द अभी हमें प्राप्त नहीं हो सका है। अतएव प्रस्तुत अष्ट में कथित 'प्रवृत्त्य' पाठ का ही समावेश हुआ है। हाँ अगस्त अष्ट से अम्बर नेनु उपाठ का भी यथापूर्व समावेश होता होगा। सम्पादक—

सम्बत्सर प्रजयति, ऋतुभ्यः सम्बत्सरात् सपत्नानन्तरेति,
तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषो भवन्ति । 'वज्रो वा आज्यम् । एतेन
वै देवा वज्रोणाज्येन ऋतून् सम्बत्सरप्रजयति, ऋतुभ्यः सम्ब
त्सरात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥
(४) ॥ एतद्वै सम्बत्सरस्य स्व पयः—यत् 'आज्यम्' । तत्
स्वेनेवेनमेतत् पयसा देवाः स्वीकुरुवन्ति । 'तथो एवेनमेष एतत्
स्वेनेव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥ (५) ॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् तत् एव नाप
कामेत् । स ह्यग्रामो वा एष सन्निधीयते—यः प्रयाजैर्यजते ।
यतरो वै स यज्ञयाः पराजयते, अथ तैः स कामति, अभित
रासु वै जपन् कामति । तस्मादभितरामभितरामेव कामेत्,
अभितरामभितरामाहुतीर्जुह्यात् ॥ (६) ॥ तदुत्तथा न कु
र्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्—तत् एव नापकामे
त् । यत्रा एव समिद्धतप्तं मन्येत—तदाहुतीर्जुह्यात् । समि
द्धहोमेत एव समिद्धा आहुतयः ॥ (७) ॥

॥ ११५ ॥ ॥ ॥ ॥ ————— ० ————— ॥ ११५ ॥ ॥ ॥ ॥

॥ ११५ ॥ ॥ ॥ ॥ २-उत्तरः प्रेष ॥ ॥ ॥ ॥

स आश्राव्य आह—“समिधो यज” इति । तद्
वसन्त समिद्धे । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समि
न्धे । ऋतवः समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च
पचन्ति । तद्वै स्वस्त्यु सर्वाण्यतून् निराह । अथ “यज, यज”

इत्येव उत्तरानाह—अजामितायै ॥ जामिह कुर्यात्—यत् । “त
नूनपातं यज, इडो यज” इति ब्रूयात् । तस्मात्—यज,
यज” इत्येवोत्तरानाह ॥ (८) ॥

३-प्रयजिब्राह्मणम्

स वै ‘समिधो’ (१) यजति । वसन्तो वै समित् ।
वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, तमन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् ।
वसन्तमु—एवैष एतद् वृद्ध्वा, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति ।
तस्मात् समिधो यजति ॥ (६) ॥ अथ ‘तनूनपातं’ (२)
यजति । ग्रीष्मो वै तनूनपात्—ग्रीष्मो हि आसौ प्रजानां त
नूस्तपति । ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अ-
न्तरायन् । ग्रीष्ममु—एवैष एतद् वृद्ध्वा, ग्रीष्मात् सपत्नान्
अन्तरेति । तस्मात्तनूनपातं यजति ॥ (१०) ॥ अथ
‘इडो’ (३) यजति । वर्षा वा इड । इति हि वर्षा, इड—
यदिदं क्षुद्र सरीसृप ग्रीष्महेमन्ताभ्या नित्यकृ भवति—तद्
वर्षा ईडितमिव नमिच्छमानं वरति, तस्माद् वर्षा इड । वर्षा
एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरायन् । वर्षा
उ एवैष एतद् वृद्ध्वा, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरेति । तस्मा
दिडो यजति ॥ (११) ॥ अथ ‘वर्हि’ (४) यजति । श
रद्वै वर्हि । इति हि शरद् वर्हि—या इमा आपधयो ग्रीष्म
हेमन्ताभ्या नित्यकृ भवन्ति, ता वर्षा वर्दन्ते, ता शरदि
वर्हिषा रूपं प्रस्तीर्णा शरे—तस्मात् शरत् वर्हि । शरदमेव

तद्देवाः भवृक्षतः शरदः सपत्नान् अन्तरायन् ॥ शरदमु एव
 एतद् वृद्धक्रे, शरदः सपत्नीन् अन्तरेति । तस्माद् बर्हिषं
 जति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा-स्वाहा' (५) इति यज
 ति । अन्तो वे यज्ञस्य स्वाहाकारः । अन्त ऋतूनां हेमन्तः
 वसन्तादि परादर्थः । अन्तेनैव तदन्तं देवा भवृक्षतः अ
 न्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद्
 अन्तं वृद्धक्रे, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात्
 स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्तः एव
 हेमन्तात् पुनरसु, एतस्मादप्येव पुनर्भवति । पुनर्होवाः अ
 स्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेदः ॥ (१४) ॥

अथ वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति-यजामिताये । 'जामि
 हं कुर्यात्-यद् व्यन्तु, व्यन्तु' इति वै यजेत्, 'वेतु, वेतु'
 इति वा । 'व्यन्तु'-इति वै योषां, 'वेतु'-इति वृषां, मिथुन
 मेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्माद् व्यन्तु, वेतु इति
 यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्ये प्रयाजे समानयति बर्हिषि । प्रजा वै बर्हि,
 रेत आर्ज्यम् । तत् प्रजास्वैवैतद् रेत सिध्यते । तेन रेतसा
 सिक्तेन इमा प्रजाः पुनरभ्यावर्त्त प्रजयन्ते । तस्मात् चतुर्ये
 प्रयाजे 'समानयति' बर्हिषि ॥ (१६) ॥ सद्ग्रामो वा एष
 सन्निधीयत-य प्रयाजेर्यजत । यतरं वै संयत्तेयोर्मिघ्रमाग
 न्धति म जयति । तदतत्-उपभृतोऽधि जुहू मिघ्रमाग
 न्धति, तन प्रजयति । तस्मात् चतुर्ये प्रयाजे 'समानयति
 बर्हिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा थराती

यति-स उपमृतमनु । यजमानायैवेतद् द्विपन्त आतृव्य वलि
 हारयति । अतैव जह्मनु आद्य उपमृतमनु । अत्र एवेतद्
 आद्य वलि हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥
 (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानर्यात् । स यद्ध अवमृ
 शेत्-यजम्भन द्विपता आतृव्येन अवमृशेत्, अक्षारमाद्येन
 अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१९) ॥ अथ
 उत्तरा जुहूमच्यूहति । यजमानमेवेतद् द्विपति आतृव्येऽच्यू-
 हति, अक्षारमाद्येऽच्यूहति । तस्मादुत्तरा जुहूमच्यूहति ॥ (२०) ॥

देवा इ वा ऊचुः-इन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञ संस्थाप
 याम, यदि नोऽसुररक्षसंन्यामजेयु -‘संस्थिते एव नो यज्ञः
 स्यात्’ इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाज स्वाहाकारेणैव
 सर्वं यज्ञ समस्थापयन् । ‘स्वाहाग्निम्’ इति तदाग्नयमाज्य
 भाग समस्थापयन् । ‘स्वाहा सोमम्’ इति तत् सौम्यमाज्य
 भाग समस्थापयन् । ‘स्वाहाग्निम्’ इति-तद्य एष उभयत्रा
 च्युत आग्नेय पुराडाशा भवति-त समस्थापयन् ॥ (२२) ॥
 अथ यथादवतम् । ‘स्वाहा देवा आज्यपा’ इति-तत् प्रयाजानु
 याजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा ।
 ‘‘जुषाराणो अग्निराज्यस्य वेतु’’ (तै० ब्रा० ३।५।६।२)
 इति तदग्निं स्विष्टकृत् समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् ।
 स एषोऽप्यतर्हि तथैव यज्ञ सतिष्ठत-यथेन दत्ता समस्थाप
 यन् । तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति ह
 वीपि भवन्ति । विजितमेव तत्-अनु सर्वं यज्ञ समस्थापयति ।
 तस्माद् यदत् ऊर्ध्वं विलोम यज्ञ क्रियेत-न तदाद्रियेत,

‘संस्थितो मे यज्ञ’ इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामे-
वास—यथा वषट्कृतम् हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते
देवा अकामयन्त—‘कथं न्विमं यज्ञं पुनराप्याययेम, अयात
यामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम’ इति ॥ (२४) ॥
स यद् जुह्वामाज्यं परिशिष्टमासीत्—तेन यज्ञं समस्थापयन्,—
तेनैव यथापूर्वं हवींष्यभिधारयन्, पुनरेवैतानि तदाप्यापयन्,
अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मादुत्तमं
प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यभिधारयति, पुनरेवैतानि तदा
प्याययति, अयातयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् ।
तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवग्रति—पुनरेव तदभिधारयति,
स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति ।
अथ यदा स्विष्टकृतेऽवग्रति—न तत् पुनरभिधारयति । नो
हि तत् कांचन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति ॥ (२५) ॥

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थब्राह्मणम्

(१४१३)—(१४१४)

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

— १ —

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

४—प्रयाजावृत् (पद्धतिः)

स वै ‘समिधो’ (१) यजति । प्राणा वै समिधः,
प्राणानेवैतत् समिन्धे । प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्धः । तस्माद-

भिमृशेति ब्रूयात्-यद्युपतापी स्यात् । स यद्युष्णः स्यात्-
 ऐव तावत् शंसेत, ममिद्धो हि तावद् भवति । यद्यु शीत
 स्यात्-नाशसेत । तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति ।
 तस्मात् ममिधो यजति ॥ (१) ॥ अथ 'तनूनपात' (२)
 यजति । रेतो वै तनूनपात् । रेत एवेतत् सिञ्चति । तस्मात्
 तनूनपात यजति ॥ (२) ॥ अथ 'इडो' (३) यजति । प्रजा वा
 इड । यदा वै रेत सिक्क प्रजायते—अथ तत् ईडितमिव
 अन्नं इच्छमान चरति, तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो
 यजति ॥ (३) ॥ अथ 'वर्हि' (४) यजति । भूमा वै वर्हिः ।
 भूमानमेतत् प्रजनयति । तस्माद् वर्हिर्यजति ॥ (४) ॥ अथ
 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति । हेमन्तो वा ऋतूनां
 स्वाहाकारः । हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते ।
 तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योपधय, प्र वनस्पतीनां पलाशानि
 मुच्यन्ते, प्रतितरामिव वशांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वर्यांसि
 पतन्ति । विपतितलोमेव पाप पुरुषो भवति—हेमन्तो हीमा
 प्रजा स्व वशमुपनयते । स्त्री इ वै तमदं कुल्ले श्रियेऽन्नाद्याय
 यस्मिन्नदं भवति—य एवमेतद्वेद ॥ (५) ॥

५-प्रयाजानुमन्त्रणम्

दवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे । ते
 दण्डैर्धनुभिर्न व्यजयन्त । त इ अविजयमाना ऊचुः—'इन्त
 वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहे, स या नो वार्ष व्याहतां
 मिथुनन न अनुनिशामात्—स सर्व पराजयाते, अथ सर्वमि-

तरे जयान्' इति । 'तथा' इति देवा अभूवन् । ते देवा इन्द्रमभू-
वन् 'व्याहर' इति ॥ (६) ॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्—'एको मम' इति ।
अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनेन
अविन्दन् । मिथुन हि—एकश्च, एका च ॥ (७) ॥ 'द्वौ मम'
इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माकं द्वे' इति इतरेऽब्रुवन् ।
तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन् । मिथुनं हि—द्वौ च, द्वे च ॥ (८) ॥
'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ 'अस्माकं तिस्रः' इति
इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन् । मिथुन हि—त्रयश्च,
तिस्रश्च ॥ (९) ॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत् । अथ
'अस्माकं चतस्रः' इति इतरेऽब्रुवन् । तदु तन्मिथुनमेवावि-
न्दन् । मिथुन हि—चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥ (१०) ॥ 'पञ्च मम'
इतीन्द्रोऽब्रवीत् । तत इतरे मिथुनं नाविन्दन् । नो ह्यत
ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति । पञ्च—पञ्च इति ह्येवैतदुभय भवति ।
ततोऽसुरा सर्वं पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन्,
सर्वस्मात् सपत्नानसुरान् निरभजन् ॥ (११) ॥

तस्मात् प्रथम प्रयाजे दृष्टे ब्रूयात्—'एको मम' इति ।
ए०१ तस्य, यमह द्विष्म' इति । यथु न द्विष्यात्—'योऽस्मान्
द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म' इति ब्रूयात् ॥ (१२) ॥ 'द्वौ मम'
इति द्वितीये प्रयाजे—'द्वे तस्य—योऽस्मान् द्वेष्टि,
य च वयं द्विष्म' इति ॥ (१३) ॥ 'त्रयो मम' इति तृतीये
प्रयाजे—'तिस्रस्तस्य—याऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्मः'
इति ॥ (१४) ॥ 'चत्वारो मम' इति चतुर्थे प्रयाजे 'चतस्रस्तस्य
याऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्म' इति ॥ (१५) ॥ 'पञ्च

मम' इति पञ्चमे प्रयाजे—'न तस्य' किञ्चन—योऽस्मान् द्वेष्टि,
यं च वयं द्विष्म.' इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति ।
तथास्य सर्वं सवृद्धकृ—सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति—य
एवमेतच्छेद ॥(१६)॥

इति पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठकं च पञ्चमं ब्राह्मणम्

—(११४४)—(११४५)—

(पञ्चमाध्यायस्य समाप्तम्)

इति—त्रिब्राह्मणात्मकं प्रयाजब्राह्मणं द्वितीयं ब्राह्मणम्

—२—

(अथ प्रथमब्राह्मणे पञ्चाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्च ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

(पञ्चाध्यायः प्रारम्भः)

६—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीपिरे—आ नो यज्ञे भजत,
मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भग—इति ॥(१)॥
तद्वै देवा न जज्ञुः । त ऋतवो देवेष्वजानुत्सु—असुरानुपाव
र्तन्त—अप्रियन् देवानां द्विपतो आर्तुग्यान् ॥(२)॥ ते
हेतामेधतुमेधाशोक्रिरे—यामेधामेतोमनुशृण्वन्ति । कृपन्तो ह
स्मेव पूर्वं वपन्तो यन्ति, लुनन्तोऽपरे मृशन्त, शश्वद्वेभ्याऽ
कृष्टपण्या एवोपधयं पविरे ॥(३)॥ तद्वै देवानामाग आस ।
'कनीय इन्वतो द्विषन्, द्विपतोऽरातोयति,' किमु एतावन्मात्र
मुपजानीत—ययेद—पिताऽन्यथाऽसदिति ॥(४)॥ ते होतु—
'ऋतून्वानुमन्त्रयामहे'—इति । 'केन' इति । 'प्रयमानेनान

यज्ञे यजाम' इति ॥(५)॥ स हाग्निरुवाच—'अथ यन्मा
पुरा प्रथमं यजथ, काह भवानि' इति । 'न त्वामायतनात्
व्यावयाम' इति । ते यदतूनमिद्वयमाना अयाग्निमायतनात्
नाच्यावयन्, तस्मादग्निरच्युत । न ह वा आयतनाच्च्यवत
यस्मिन्नायतने भवति—य एवमेतममिमच्युतं वेद ॥(६)॥ तं
देवा अग्निमब्रुवन्—'परेहि, एनास्त्वमेवानुमन्त्रयस्व' इति ।
स हेत्याग्निरुवाच—ऋतव ! अविद वै वो देवेषु यज्ञ भाग'
मिति । 'कथ नाऽविद' इति । 'प्रयमानेव वो यज्ञे यद्वयन्ति'
इति ॥(७)॥ त अतत्रोऽमिमब्रुवन्—'आ वय त्वामस्मासु
भजाम—यो ना देवेषु यज्ञे भागमविद' इति । स एषोऽमिर्ऋ
तुष्वाभक्तः—'समिधोऽध्वने'—'तनूनपादग्न—'इहोऽ-
ध्वने'—'वर्हिरग्न'—'स्वाहाग्निम्' (तै० ब्रा० ३।५।५।)
इति । आभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति, यामस्य
समानो ब्रुवाणः करोति, अमिमते ह वा अस्मा अमिमन्त
ऋतव औपधी पचन्तोद सवय—य एव मतममिमृतुष्वाभक्त
वेद ॥(८)॥

तदाहु —'यद् उत्तमान् प्रयाज नावाहयन्ति अथ कस्मा
दनान् प्रथमान् यजन्ति' इति । 'उत्तमान् ह्येनान् यज्ञेऽवाक-
ल्पयन्—प्रथमान् वा यजाम—इत्ययुगन् । तस्मादुत्तमाना
वाहयन्ति, प्रथमान् यजन्ति' ॥(९)॥

चतुर्येन वै प्रयाजन देवा यज्ञमाप्नुवन्, त पक्षमेन
समस्यापयन् । अथ यदूर्ध्वमसस्थितं यज्ञस्य—स्वर्गमेव तेन
लोर्व समाश्रुवत ॥(१०)॥ ते स्वर्गं लोकं यन्तोऽसुररक्षसेभ्य
आसङ्गत् विभयाश्रुः । तेऽग्निं पुरस्तादकुर्वत—रचोदणं

रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुर्वत—रक्षोहणं रक्षसाम
 पहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत—रक्षाहणं रक्षसामपहन्तारम्
 ॥(११)॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसहृक्षन्—
 अग्निरेव तान्यपाहन्—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादा
 सिसहृक्षन्—अग्निरेव तान्यपाहन्—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि
 पश्चादासिसहृक्षन्—अग्निरेव तान्यपाहन्—रक्षोहा रक्षसामपह
 न्ता । अत एव सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमाना स्वर्गं लोक
 समाश्नुवत ॥(१२)॥ तथो एवैष एतच्चतुर्येन प्रयाजेन यज्ञ
 माप्नोति, त पञ्चमेन सस्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमस
 स्थितं यज्ञस्य-स्वर्गमेव तेन लाफ समश्नुते ॥(१३)॥ स
 यदाग्नेयमान्यमार्गं यजति अग्निमेवैतत् पुरस्तात् कुरुते
 रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदाग्नेयं पुराडाशो
 भवति अग्निमेवैतन्मध्यत कुरुते रक्षाहणं रक्षसामपहन्तारम् ।
 अथ यदाग्निं स्वष्टकृतं यजति अग्निमेवैतत् पश्चात् कुरुते
 रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् ॥(१४)॥ स यद्येन पुरस्तादसु
 ररक्षसान्यासिसहृक्षन्ति—अग्निरेव तान्यपहन्ति—रक्षोहा
 रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसहृक्षन्ति अग्निरेव
 तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिस
 हृक्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । स
 एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमाना स्वर्गं लोकं समाश्नुते ॥(१५)॥

७-अभिचार

स यद्येनं पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरेत्-तं प्रति वृषात्
 'मुख्यामार्चिमारिष्यति अन्धो वा, वर्धरो वा भविष्यसि' इति ।

एता वै मुख्या आर्त्तयः । तथा हेव स्यात् ॥(१६)॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्-तं प्रति ब्रूयात् 'अप्रजो, अप शुभंविष्यसि' इति । प्रजा वै पशवो मध्यम् । तथा हेव स्यात् ॥(१७)॥ यद्यन्ततो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्-तं प्रति ब्रूयात् 'अप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रेऽमु लोकमेष्यसि' इति । तथा हेव स्यात् । तस्माद्दु ह नानुव्याहारीव स्यात् । उते श्वेर्वित्परो भवति ॥(१८)॥

८-फलश्रुतिः

सम्बत्सर इ वै प्रयाजैर्जयन् जयति । स ह न्वनेन जयति-याऽस्य द्वाराणि वन्द । किं हि स तेष्टुहे कुर्यात् यानन्तरतो न व्यवविद्यात् यथा यथास्थ ते भवन्ति । तस्य वमत-एव द्वारं, हेमतो द्वारम् । तं वा एत सम्बत्सरं स्वर्गं लोकं प्रपद्यते । सर्वं वै सम्बत्सरं, सर्वं वा अक्षयम् । एतेनो हास्याक्षयं सुकृतं भवति, अक्षयो लोकः ॥(१९)॥

९-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

तदाहुः—'किं देवत्याग्याज्यानि' इति । 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात् । अनिरुक्ता, वै प्रजापति, अनिरुक्ताग्याज्यानि । तानि हेतानि यजमानदेवत्याग्येव । यजिमानो ह्येव स्व यज्ञे प्रजापति-एतेन शुक्रा अर्त्विजस्तम्बते त जनयन्ति ॥(२०)॥ स आज्यस्य उपस्तौर्यं, द्विहविषोऽवदाय, अथा परिष्टात् आज्यस्य अभिधारयति । सैषा आर्ज्येन मिथ्राहु-तिर्दृश्यते । यजमानेन देवेपेतमिथा दृश्यते । यदि ह वा अपि

दूरे सन् यजते, यद्यन्तिके-यथा हैवान्ते सत इष्टे स्यात्,
एव हैवैव विदुष इष्ट भवति । यद्यु हापि वह्निव पाप
करोति—नो हैव वह्निर्दा यज्ञाद्भवति—य एवमेतद्वेद ॥२१॥

इति षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठ ब्राह्मणम्

—(१।५।१।)—(१।५।६)—

(चतुर्थप्रपाठकस्य समाप्त)

इति—त्रिब्राह्मणस्यात्मके प्रयागब्राह्मणे तृतीय ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तकथं त्रिब्राह्मणस्यात्मकं प्रयागब्राह्मणम्

इति—प्रवृत्त्युपाठः (११)

—●—

क-प्रथम-मूलानुवादे प्रासङ्गिकसंग्रहः—

प्रस्तुत 'प्रयाज' कर्म का आद्यखण्ड के तीन आद्यखण्डों में सांपत्तिक निरूपण हुआ है। अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन आद्यखण्डों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना आवश्यक माना है। तीनों आद्यखण्डों में प्रयाज-कर्म का ही विरलेषण हुआ है, अतएव तीनोंकी समष्टि को एक आद्यखण्ड मानते हुए हमने उस— 'प्रयाजआद्यखण्ड' इस एक नाम से व्यवहृत करना आवश्यक मान लिया है।

त्रिआद्यात्मक 'प्रयाजआद्यखण्ड' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, आद्यखण्डों में क्रमशः ३, २, ४, इतने अक्षान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों आद्यखण्डों की कटिहका संख्या क्रमशः (१)—२५, (२)—१६, (३)—२१, हैं। सम्पूर्ण त्रिआद्यात्मक इस प्रयाज आद्यखण्ड में ६ अक्षान्तर प्रकरण, तथा ६२ कटिहका शायती हैं। इस प्रासङ्गिक संग्रह का लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाद का समन्वय करना चाहिए।

१	<p>(१)-१-प्रयाजबन्धु—१ कं०, ५ कं०। (६ कं०)</p> <p>(२)-२-उत्तरप्रवेश—६ कं०, ८ कं०। (१४ कं०)</p> <p>(३)-३-प्रयाजआद्यखण्डम्—६ कं०, २५ कं०। (३१ कं०)</p>	<p>त्रिप्रकरणात्मक २५ कटिहकात्मक प्रथम प्रयाजआद्य- खण्डम् १</p>
२	<p>(१)-४-प्रयाजावृत्त—१ कं०, ५ कं०। (६ कं०)</p> <p>(२)-५-प्रयानुमन्त्रणम्—६ कं० १६ कं०। ११ कं०)</p>	<p>द्विप्रकरणात्मक १६ कटिहकात्मकद्वितीय प्रयाजआद्यखण्डम् २</p>
३	<p>(१)-६-प्रयाजानामिष्टौ प्राधम्यम् १ कं०, १४ कं०। (१५ कं०)</p> <p>(२)-७-अभिचार—१६ कं० १८ कं०। (३४ कं०)</p> <p>(३)-८-पुनर्भुति—१६ कं०, १ (१ कं०)</p> <p>(४)-९-परिशिष्टप्रस्तावविमर्श—२० कं०, २१ कं०। (४१ कं०)</p>	<p>चतुःप्रकरणात्मक २१ कटिहकात्मक तृतीय प्रयाजआद्य- खण्डम् ३</p>
<p>त्रिआद्यात्मक ६ अक्षान्तरप्रकरणआत्मक, ६२ कटिहका त्मक—'प्रयाजआद्यखण्डम्'</p>		

सु-मूलानुपादः—

- (१)—पौर्वर्णे अध्याय में तीसरा (३), चौथे प्रपाठक में चौथा (४)—(१।१।३)—(१।१।४)—
 (८)—पौर्वर्णे अध्याय में चौथा (४) चौथे प्रपाठक में पौर्वर्णा (४)—(१।१।४)—(१।१।४)—
 (३)—छठे अध्याय में पहिला (१), चौथे प्रपाठक में छठा (६)—(१।६।१)—(१।६।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—“प्रयाजब्राह्मण”

(प्रथमकण्डिकाानुगत क्रम से २२, २३, ४^१ वें ब्राह्मण)



प्रथमकण्डिका में पौर्वर्णे अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

(१-४-३)—(१-४-४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण)

१-प्रयाजबन्धु (उपपत्ति)

(पूर्व कं सु गादापनब्राह्मण में सु गादापन-निगदमन्त्र के पाठानन्तर जिस आ
 भाव, प्रत्याभावकर्म की उपपत्ति बतलाई गई है, उस का 'पञ्चप्रयाज' बाग स
 सम्बन्ध है । आवापकर्म से पहिल 'पञ्चप्रयाज' नामक कर्मविरोध विहित है, जैसा
 कि, सूत्रानुगत-पद्विप्रकरण में स्पष्ट किया जाने बाका है । 'ओ भावय' इत्यादि
 व्याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक विहित-पञ्चया विभिन्न आम्नाहुतिकर्म ही
 'पञ्चप्रयाज'कर्म है । आ० प्र० कर्मेतिकर्तव्यता बतलाते हुए पूर्वब्राह्मणास्तगत
 सूत्रानुगत-पद्विप्रमह परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि, हावकृद् क 'अग्नि-
 होता वेस्वमेहोत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक सु गादापननिगदपाठ के अबसर
 पर होता के मुख से जिस समय—'धृतवती' मन्त्र्यों सु चमास्यस्व' इस बाधी व्या
 हृति का उच्चारण होता है, उस के 'धृतवतीम्' पक्षोच्चारण के साथ साथ ही अ
 ष्यु' सुह-उपसुत् का ग्रहण कर लता है । सु गादापन-कर्म समाप्तानन्तर अष्यु'
 'आग्नीध्र' के प्रति 'ओ भावय' व्याहृति का, आग्नीध्र अष्यु' के प्रति 'अस्तु
 आपद्' व्याहृति का, अष्यु' होता के प्रति 'यज' व्याहृति का, एवं हाता अष्यु' के
 प्रति 'ये यजामह' व्याहृति का उच्चारण करता है । सवास्त में होता के मुख स
 'वौषट्' इस पौर्वर्णी व्याहृति का उच्चारण हात ही अष्यु' सुह-स्थित आम्नभागा
 की समिद्ध आहवनीयाम्नि में आहुति द बता है, यही आ० प्र० कर्म है—'दक्षिण
 ५ सं० १८ सु गादापन ब्राह्मण-१ बस्तुत आ० प्र० कर्म का तात्पर्य है—पञ्च-

व्याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक संचारण करना । व्याहृति ऐसा ही प्र-
पञ्चम है, जो इन्हीं पाँच व्याहृतियों के पञ्चावर्तन से पाँच बार होता है, जिस-
मोमपक्षिक इतिकृतव्यता प्रकृत के त्रिपञ्चासत्मात्मक प्रयाजत्रास्य में प्रतिपादित
है । पूर्वत्रास्य में वस्तुतः 'सुगादापनकर्म' की ही सोपपक्षिक इतिकृतव्यता का
रूपण हुआ है । अतएव यह त्रिपञ्चासत्मात्म्य इसी नाम से ('सुगादापनत्रास्य' न-
म) ही व्यवहृत किया गया है । खु कि इस कर्म का 'पूतवतीम्०' इत्यादि को
व्याहृति के साथ ही 'ओ आचय०' इत्यादिलक्षण व्याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कर्मक
उपपत्ति हो जाता है, अतएव वही भूति ने इस पञ्चावहृति से सम्बन्ध रखन बात
उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है ।—तत्त्वत आ० प्र० कर्मोपपत्ति से सम्ब-
न्धित बातों सुगादापनत्रास्य में प्रतिपादित यह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजत्रास्य
में ही सम्बन्ध रखता है । और इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि,—
त्रास्य की—'अग्निर्होता वस्त्वन्होत्रम्०'—१-५-३-१" इस प्रथम कटिहका में क-
र्म कर—'ता वा गता नव व्याहृतयो मवन्ति०' १-५-३-५" इस पाँचवीं कटिह-
का पञ्चम पञ्चावहृतिप्रकारक त्रिपञ्चासत्मात्म्य ही वस्तुतः 'सुगादापनत्रास्य' है । आग-
'वन्ता ॥ इवन्तोऽपचक्राम०'—१-५-३-५" इस ६ठी कटिहका में ही प्रयाजत्रास्य
आरम्भ होता है । यहाँ ७-६ठी कटिहका में—आरम्भ कर त्रिपञ्चासत्मात्मक प्र-
याजत्रास्य के तृतीय त्रिपञ्चासत्मात्म्य की 'म आभ्यशोपनीर्य०'—१-६-१-२१" इस ७
मवीं कटिहका पञ्चम सम्पूर्ण त्रिपञ्चासत्मात्म्य भाग 'प्रयाजत्रास्य' है । प्रयाजकर्म में
'ओआचय' इत्यादि आभाषण—प्रत्याभाषणात्मिका व्याहृतियों से सम्बन्ध होता है ।
उन व्याहृतियों में सम्बन्ध रखन बात पारस्परिक सम्प्रदान की, व्याहृतियों के
पञ्च संवा की, मन्त्रों अक्षरों की, कान्य चतों की उपपत्तिमात्र पूर्वत्रास्य में
प्रतिपादित हुए हैं । अब प्रकृत प्रकरण में 'ओआचय आदि से सम्बन्धित होने बात
प्रयाजकर्म की ही उपपत्ति बतलाई जाती है । अतएव प्रकृत प्रकरण—'प्रयाजत्रास्य'
नाम में व्यवहृत हुआ है । इसी प्रकरण सङ्गति का लक्ष्य में रखते हुए अक्षरार्थ के
सम्बन्ध करना चाहिए) ।

(सुगादापन कर्मानन्तर—'ओ आचय०' इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आ-
चयकर्म में पहिले पाँच प्रयाज होते हैं । प्रयाज पाँच क्यों होते हैं ? इसी प्रश्न के
सापेक्षिक समाधान करती हुई बुझि जाती है)—(य पाँच) प्रयाज निरूपण
(पाँच) चतुर्णो हैं (यथापि पञ्चप्रयाज पाँच चतुर्णो कर्तव्यं है) । इसी लिए
(यहाँ) पाँच प्रयाज बात है (किता जाने है) । निरूपण चतुर्णो पाँच हैं । तात्पर्य

यही हुआ कि, प्रयाजकर्म अमुकर्म है । अतः पूर्ण चूँकि पाँच हैं, अतएव तदुप
 प्रयाजों का पाँच होना स्वाभाविक ही है) ॥१॥ (दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म के
 सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, प्रकृत इष्टिकर्म में अनुकूलतया प्रयाजों का
 वजन किया ही क्यों जाता है ? इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आम्मानद्वारा समा-
 प्तन करती हुई भुक्ति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) 'प्राजा-
 पत्य' (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता), दोनों (ही)
 पिता प्रजापतित्व पर आत्मक सम्बन्ध को लक्ष्य बनाकर (निमित्त बनाकर)—'यह
 हमारा ही भाग, यह हमारा ही होगा' इस प्रकार स्वार्थ करने लगे । (तात्पर्य
 सम्बन्धप्रजापतित्व वक्ष्यमान के लिए दोनों में प्रतिस्पर्धा चलने लगी, दोनों उस
 पर अपना स्वत्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर लड़ने लगे) ॥ (२) ॥ (अमि-
 तानी असुरों ने स्वार्थ तो अवरय की प्रजापत्य वक्ष्यमान के भोग की तो कामना
 अवरय की परन्तु जिस प्राण-बाण व्यापारलक्षण अर्चन-तप-भ्रम से वह कामना
 सफल हुआ करती है, उस का अनुगमन उन्होंने न किया । उधर) देवों ने (अपनी
 स्वाभाविक कर्म—प्रवृत्ता से) अर्चन (लक्षण तपोव्य प्राणव्यापार,
 अन्तर्व्यापार) भ्रम (लक्षण बाणव्यापार-बहिर्व्यापार, तत्त्वत आत्मवत्, एवं
 शरीरवत्) का अनुगमन करत हुए (वक्ष्यमान प्राणि के उपाय का अन्वेषण कर-
 त हुए) बिचरने लगे । (कालान्तर में इस अर्चन, भ्रम के फल स्वरूप) उन्होंने
 (देवदेवताओं ने) (वक्ष्यमान-व्यसनाधनमूल) इन (आगे बतलाए जाने वाले)
 प्रयाजों को दत्त लिया (प्राप्त कर लिया) इन (प्राप्त प्रयाजों) से (देवदेवता-
 ओं ने सम्बन्धप्रजापति का) वक्ष्यमान किया (वक्ष्यमान साध प्रयाज कर्म का
 सम्बन्ध कर दिया) इन (पाँच प्रयाजों) से (देवदेवताओं ने सम्बन्धप्रजापत्य-
 मूल पाँच अनुष्ठानों को, (एवं पाँच अनुष्ठानों के द्वारा ही पञ्चभूमिपरिणत) सम्बन्ध को
 प्रतिष्ठित किया । (इस प्रयाजकर्मवत्त म ही) देवदेवताओं ने (सम्बन्ध के अन्वेष-
 मत पाँचों) अनुष्ठानों से (एवं समष्ट्यात्मक) सम्बन्ध (रूप वक्ष्यमान) से
 (चूँकि अवन मन्त्र) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहर किया अतएव (अमु-
 रपराजपूषक स्वजलाम के कारण ही) ये (पाँच कर्म) 'प्रयाज' (व्ययप्राणि के
 मापन) कहलाए । यह 'प्रयाज' ही नाम (परोक्षप्रियादेवताओं की पराजमाणा में
 वक्ष्यमानशाय में) प्रयाजा नाम से प्रसिद्ध हुआ । (तात्पर्य आकाश का यही
 हुआ कि, देवता और असुर, दोनों सम्बन्धप्रजापत्य-सम्पत्ति प्राप्त करना चाहत थे ।
 देवताओं ने दत्ता कि बिना अन्वेष सम्पत्ति प्राप्ति के अन्वेष-भ्रम-सम्पत्ति प्राप्त नहीं

की-जा सकती। फलस्वरूप उन्हींने पहिले व्यवस्था—स्वरूपा श्रुतसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के फल से आग जाकर सम्पूर्ण सम्बत्सर पर जन का अधिकार होगा। इस प्रकार श्रुतपञ्चन ही वेवताओं के जन का कारण बना। अतएव श्रुतकर्म अथवा ही 'प्रजय कहा जासकता है। प्रजयक श्रुतकर्म ही पुरोडाशाभा में 'प्रयाज' कहलाया। (वैद्यपय में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि, वह भी उसे प्राकृतिक नियमानुसार पहिले व्यवस्थासम्पत्ति ही प्राप्त करे, इसी अमिमाय से आग जाकर भुति कहती है)—उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक माण्डलादण वेववेवताओं ने किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पाँच प्रयाजों से (यज्ञाधिराजकस्य देवात्मा के लिए) श्रुतों को, एवं (श्रुतद्वारा श्रुतसमष्टिरूप) सम्बत्सर को अपने अधिकार में करता है, (इस प्रामाधिकार वक्त पर) श्रुतों और सम्बत्सर से अपने शत्रुओं को बाहिर निकाल देता है। इसीलिए (श्रुतसम्पत्तिपूर्वक सम्बत्सर सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (श्रुतों का) यजन करता है (प्रयाज कर्म करता है। प्रयाज कर्म क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न का वही 'कन्तु'—(तात्पर्य—उपपत्ति—समाधान) है ॥३॥

(आवाप-प्रधान—वेवता के लिए उहाँ पुरोडाशाहुति विहित है वही श्रुत रूप प्रयाज देवताओं के लिए आग्यहवि-वृत्ताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आग्यहवि क्यों होती है ?, इसी प्रासादिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अमिमाय से भुति कहती है)—ब (पाँचों प्रयाज) निरवयव आग्यहवि वाले होते हैं (पाँचों के लिए वृत्ताहुति का विधान हुआ है । कारण इसका वही है कि) (यह) आग्य निरवयव वज्र (शत्रुनाशक माधन) है। आग्यरूप इसी वज्र में निरवयव देवदेवताओं ने (असुरों का संहार करण हुए) पाँचों श्रुतों (एवं तद्वारा) सम्बत्सर को जीत लिया (था), (इसी अवलाम के वक्त पर उन्हींने) श्रुतों, और सम्बत्सर से शत्रुओं का निकाल बाहिर किया (था)। उसी प्रकार (प्राकृतिक यज्ञवत्) यह यजमान (भी) आग्यरूप इसी वज्र में श्रुत, और सम्बत्सर जीत लेता है (वगा), श्रुत और सम्बत्सर से शत्रुओं का निकाल देता है (वगा)। (वृत्ति आग्य शत्रुविनाशक वज्र है वही कर्म—शत्रुनाशपूर्वक यजमान—ही यहाँ अमीमित है।) अतएव (ये प्रयाज) आग्यहविवाच होते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यों आग्यहवि होती है ? प्रश्न की वही उपपत्ति है) ॥ ४ ॥ (आग्यहवि का एक कारण तो शत्रुपरागत है। अतएव एक दूसरा कारण और बतलाती हुई भुति कहती है)—यह तो आग्य है वह निरवयव सम्बत्सरवत् का अपना वज्र—माह—माह है (प्राप्ति

लिक रेत-बल-दे)। (प्रवाजों के लिए आन्तरिक आभ्यतस्व की आहुति दत्त हुए) बेबेबेबताओं न उस सम्बत्सर प्रजापति का अपने 'आपके सारमाग स ही पुष्ट बनाया। तबैव ('आभ्यहवि' करता हुआ) वह यजमान (भी) सम्बत्सर क अपने सारमाग स ही उसे अपनाता है। इसलिय (भी ये) प्रवाज आभ्यहवि बाँधे होते हैं। (तात्पर्य, शत्रुबिनारा परिक्षा फल है, सम्बत्सर को अपने ही सार माग स पुष्ट कर उसे समृद्ध करना, तद्विधारा स्वयं को समृद्ध करना आभ्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रवाजाभ्युत्ता आभ्यहवि का बन्धु-उपपत्ति-है) ॥५॥

(प्रवाजकर्म आभाषणपूर्वक आरम्भ होता है, वह कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में वह नियम है कि, जिस वज्र भूमिप्रदेश पर लड़ा हुआ अण्व्यु आनीप्र क प्रति—प्रवाजकर्म के लिए 'ओ भावय' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, वहाँ स पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया ?, इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अमिप्राय मे आदेश—विरक्षण पूर्वक मुक्ति कहती है—) वह अण्व्यु जिस (नियत) प्रदेश में ही लड़ा होकर प्रवाजों के लिए आभाषण कर, उस प्रदेश स पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अण्व्यु प्रवाजों स (शत्रुओं का) यजन करता है, वह (यजमान क शत्रुओं के साथ) युद्ध ठानता है। जो योद्धाओं में से जो योद्धा पराजित हो जाता है, वह निश्चयेन मैदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रवाजकर्म समाप्त कर्म है, अण्व्यु योद्धा को जयलभ करना है। आगे बढ़ना ही जय का सूचक है) अतएव (अण्व्यु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढ़ आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रवाजकर्म मे सम्बन्ध स्वन बास अण्व्युपनिषत्, अमिप्राय विधान का यही बन्धु है। एवं यही प्रवाजकर्म का बन्धु—उपपत्ति—है, त्रिमका ३ कण्डिकाओं में विमलपत्र हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् आश्वक्व की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। परन्तु आहुति क साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुचित है। अतएव—'तस्मादभि परामभिरामव कामन' यह उनकी दृष्टि में विज्ञान विमल है। इसी पक्षका स्पष्टन करने हुए वासव्य कहत हैं कि) वह अण्व्यु बैसा न कर (आगे आगे बढ़ बढ़ कर आहुति न द)। 'जिस प्रदेश में लड़ा होकर अण्व्यु प्रवाजों के लिए आभाषण कर वहाँ स पीछे न हटे' (इतना अंग ना विज्ञानमग्न है, परन्तु—थाड़ा धोड़ा आगे बढ़ना हुआ आहुति न वह अंग अवैज्ञानिक है। शत्रुनारा ही ता अभिप्रेत है। वह यहाँ उस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि में दूत होकर

समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे बहना अनिवार्य मान लिया जायगा, और
 पुनः अग्निप्रवेशों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा, तो उस असमिद्ध (अप्रज्वलित) अग्नि
 में हुए आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरर्थक बन जायगी। अतएव उत्तराक्रम
 का आग्रह निरर्थक, साथ ही अभीष्टफल का विधातक भी होगा। अतएव होना यह
 चाहिए कि) वह अण्वयु (आहुतनीयान्नि के) जिस प्रवेश में अग्नि को समिद्ध
 रखे वही आहुति वे (बाहे उस समिद्धान्निप्रवेश के लिए भस्त्रे ही आगे आग्रह
 न करना पड़े। क्योंकि) समिद्धहोम (समिद्धान्नि में आहुतिद्रव्य डालने से)
 ही आहुतिर्वा समिद्ध मानी गई है ॥ ७ ॥

इति—प्रयाजबन्धुः (१)

२—उत्तरप्रैष

(सर्वप्रथम अण्वयु आग्नीध्र के प्रति 'ओ भावय' यह प्रैष करता है।
 इस प्रैष में आग्नीध्र अण्वयु के प्रति 'अस्तु औपद् यह कहता है। अनन्तर पुनः
 अण्वयु हावा के प्रति 'यज'-याज्यामज्य का अनुबचन करो यह प्रैष करता है।
 जिस जिस प्रयाज का वजन होता है, उस उस प्रयाज के लिए अण्वयु को ओ भावय
 ओ भावय, इत्यादि रूप में आग्नीध्र के प्रति, एवं—'यज'—'यज इत्यादि रूप में
 होता है प्रति प्रैष करता हुआ है। नमः दधि में आग्नीध्र के प्रति दान वाले
 'ओ भावय रूप प्रैषों का 'पूर्वप्रैष' कहा जायगा एवं उत्तरभात्री होता है प्रति
 होने वाले 'यज' रूप प्रैषों का 'उत्तरप्रैष' कहा जायगा। प्रस्तुत सातवीं कविता
 में 'यज' लक्षण उस उत्तरप्रैषों का ही निरूपण हुआ है। अति करती है)—

वह (अण्वयु आग्नीध्र के प्रति 'ओ भावय' इस रूप में) आभाषण कर
 (आग्नीध्र न अस्तु औपद् इत्याकारक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता
 नामक अस्मिन् के प्रति उत्तरप्रैष करता हुआ) कहता है—'ममिपो यज' (हे
 होत ' ममिद्धती दत्ता के पास के लिए याज्या पाठ कर) । ('ममिपो यज' इस)
 उत्तरप्रैष में अण्वयु पमम् शत्रु का ही समिद्ध-प्रज्वलित-करता है (उत्तरप्रैष
 कर्म में शत्रु प्रहीन हो पड़ती है यही तात्पर्य है। अण्वयु हल उत्तरप्रैषात्मक-
 ममिपो यज इस ममिधनकर्म में न कर्म बमम् का ही, अपितु तद्द्वारा मण्डू-
 पोषा-शत्रु का समिद्ध कर देता है। क्योंकि वमन् ही शत्रु शत्रुओं की मूलजननी

है, जैसा कि, विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। इसी तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई भुक्ति कहती है) — (अध्वयुं कृत उत्तर प्रैप से) समिद्ध वह वसन्त अन्य (घातों) अनुष्ठानों को समिद्ध कर देता है। (वसन्तसमिन्धन के द्वारा परम्परया क्रमरा) समिद्ध पाँचों अनुष्ठान प्रजा उत्पन्न करती हैं, ओषधि (वनस्पतियों को भी) परिपक्व करती हैं। (वसन्तसमिन्धनरूप जिस कारण से वसन्त सर्व समिद्ध होता हुआ परम्परया अन्य अनुष्ठानसमिन्धन का भी कारण बन जाता है) प्रतापता ही (केवल वसन्त समिन्धन ही) अन्य सब अनुष्ठानों (के समिन्धन का स्पष्टीकरण कर) रहा है। (तात्पर्य, केवल वसन्त समिन्धन ही शेष अनुष्ठानसमिन्धन के लिए पर्याप्त है)। (जिस प्रकार वसन्त वागात्मक समिधाग में—‘समिधो यज्ञ’ इत्यादि रूप से अनुष्ठान नाम का उल्लेख होता है, तद्वत् इतर मीष्मादि वागात्मक वनूतपात वागादि में—‘वनूतपातं यज्ञ’—इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्वयं प्राप्त है। उसी का एक विशेष अनुष्ठान से निराकरण करती हुई भुक्ति कहती है) — वह अध्वयु (वसन्त के भाग की—मीष्मादि) अनुष्ठानों को (वनूतपातं यज्ञ—इहो यज्ञ—इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) ‘यज्ञ—यज्ञ—’ इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्याय प्राप्त है, तो नामम्हण पूर्वक उत्तर अनुष्ठानों के लिए उत्तरप्रैप क्यों नहीं किया जाता, प्रश्न का समाधान करती हुई भुक्ति कहती है कि) अजामिता के लिए (ही यज्ञ यज्ञ रूप से ही) उत्तर अनुष्ठानों को कहता है (अनुष्ठानों के लिए उत्तरप्रैप करता है)। जामि (पुनरुद्देश) करेगा, यदि वह अध्वयुं—‘वनूतपातं यज्ञ’—‘इहो यज्ञ’ कह करेगा तो। तात्पर्य, जब समिद्ध नाम निर्देश से ही इतर अनुष्ठानों का समिन्धन हो जाता है, तो दुबारा अनुष्ठानों का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी, जो वदमापा में ‘जामि’ शेष कहलाता है) इसलिये वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) ‘यज्ञ—यज्ञ’ इसी रूप से उत्तर अनुष्ठानों को कहता है ॥ ८ ॥

इति—उत्तरप्रैपः (२)

३—प्रयाजब्राह्मण

अनुष्ठानात्मक पञ्च प्रयाजों में सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तिका १ करिडका से ८ करिडकापर्यन्त ८ करिडकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर १ करिडका में २५

वी करिहकापप्यन्त आद्यायसमाप्ति पप्यन्त-१७ कथिहकाप्यों के द्वारा प्रवाजयागे विकर्तय्यता लक्षणा पद्धति का प्रयाजयागानुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुईं बुद्धि करती हैं) —

१ वह (अध्वयु) नामक अध्विरिक होता नामक अध्विरिक के—‘समिधो अग्न आज्यस्य ध्वस्तु, वीपद्’ इस समिधदेवताक याम्यामन्त्र के बोलने पर उस के—‘वीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयानि के समिध प्रवेश में जुहुस्विध आग्नेय की आहुति द्वारा (समिधाग (वसन्तयजमान) करता है। समिध निरचयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिधाग से) वृषदेवताओं ने वसन्त को ही (अमुराधिकार से) वृषक किया (था), एवं वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिधाग की विधा पर प्रसिद्धि याम्यामन्त्ररक्षित्युत इस अपन वीध समिधाग के वक्ष पर) यह अध्वयु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) वृषक करता है, एवं (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। (वैषयज से अग्न यज्ञातिराज-जज्ञय यजमान के देवात्मा के स्वर्गात्मक सम्बत्सरयज्ञफल के प्रथम वसन्त पक्ष पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रहे, केवल देवात्मा ही उसका अन्यन्तम भोक्तृ बने) इतीक्षिप (अध्वयु) समिधाग करता है ॥६॥

(२) समिधाग करने के अनन्तर वह (अध्वयु) होता क—‘तनूपादग्न आग्नेय वेतु वीपद्’ इस तनूपादेवताक याम्यामन्त्र के बोलने पर उस के ‘वीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयानि के समिध प्रवेश में जुहुस्विध आग्नेय की आहुति द्वारा (तनूपाधाग (प्रीत्ययजन) करता है। तनूपात् निरचयेन प्रीत्य है। प्रीत्य ही इन (पार्थिव) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है (अतएव तनूपात् अवश्य ही प्रीत्य है)। (प्राकृतिक तनूपाधाग में) वृषदेवताआने प्रीत्य को ही (अमुराधिकार में) वृषक किया (था) एवं प्रीत्य से (असुर) सपत्नों का निकाल बाहिर किया था—(गेप १ कथिहकाप्यन्त) ॥१०॥

(३) तनूपाधागानन्तर वह (अध्वयु) होता क—‘इहो अग्न आग्नेयस्य ध्वस्तु, वीपद्’ इस इह-देवताक याम्या-मन्त्रावधारण करने पर उस के ‘वीपद्’ उच्चारण के साथ समिध आहवनीयानि में आग्नेय की आहुति द्वारा (इह-याग (वर्षायजन) करता है। यह निरचयेन वर्षा है। इह इसलिये वषा द कि, पृथिवी पर रेंगते हुए सो य छोटे छोट वृक्षजाम-गोधा जैसे-प्राणि जन्तु गर्मी, धीर सर्पों के आक्रमण

स अतिराम्यरूप मे कीणकाय होजाते हैं, वे सब क्षुद्र सरीसृप बर्णों के आते ही जीवन पारस करते हुए से-युद्ध से होते हुए अम्नादान की इच्छा करत हुए (वह पक्षास के साथ) इतस्तत् विचरने लगत हैं । (इस प्रत्यक्ष-दृष्ट इहन्न भाव मे अवरय ही बषा को इद् अम्नात्मक-कहा जासकता है ।—(शेष & कण्डिकावत्) ॥११॥

(४)—इह-यागानन्तर वह (अन्वयुं होता के—'वर्धिरन् आवस्य वेतु औपद्' इस वर्धिरवेताक याम्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उम के 'औपद्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाम्नि में आम्नाहुति के द्वारा) वर्धिषाग (शरद्वजन) करता है । वर्धि निरचयेन शरत् है । वर्धि इसलिय शरत् है कि, जो ये औपधियों गर्मी-सर्दी स मुहूर्त जाती हैं, वे औपधियों बर्णों-के आगमन पर (पुन) प्रवृद्ध होजाती हैं । (बर्णों में प्रवृद्ध) व (ही) औपधियों शरद्वस्तु में फैले हुए-बिम्बरे हुए र्मदणों की भवि शीघ्र होजाती हैं । इस स्वरस्य-शीघ्र-भाव के साथर्म्य मे शरत् (अवगममेव) वहि है । (शेष कण्डिकावत्) ॥१२॥

(५)—वर्धिषागानन्तर वह (अन्वयुं होता के—'स्वाहाग्निं स्वाहा सोम, स्वाहाम्नि, स्वाहा देवों आम्नयाम, स्वाहाम्नि होत्रा जुपाणा', अम्न आम्नस्य अम्नु औपद्' इस स्वाहा-हमन्त-वृत्ताक याम्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उम क 'औपद्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाम्नि में आम्नाहुति के द्वारा) स्वाहा-स्वाहायाग- (हेमन्त वजन) करता है । 'स्वाहा' कार यह का अन्त (अन्तिम पर्व) है । (उपर पांच) अनुष्ठो का हेमन्त ही अन्त (अन्तिम पर्व) है । हेमन्त वसन्त से पराङ्ग - परस माग-अन्तिमभाग-पर है । इसीलिए इस अनुष्ठो का अन्त कहा जासकता है । (अपन प्राकृतिक स्वाहाभाग से) देवदेवताओं में (यह क) अन्त (अन्तिम पर्व रूप स्वाहा) स ही देवदेवताओं न उस (अनुष्ठो के) अन्त (अन्तिमपर्व रूप हमन्त) को (अमुराधिकार स) प्रवृक् कर लिया (या), अन्तद्वारा (स्वाहायाग-द्वारा) अन्त स (हेमन्त स) सपत्नी को निकाल बाहिर किया (या) । (तथैव-शर्प मयम्) ॥१३॥

(हमन्त अनुष्ठो का अन्तिम पर्व है, उपर स्वाहा भी यह का अन्तिम पर्व ही है । इस स्वाहाम्नि से अनुष्ठ-अम्न हमन्त-पर अधिकार तो हो जाता है, परन्तु अन्तमाचना यजमान के वैद्वलीकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं माभी जासकती । इस अम्नभाग-स्वाहायाग-लक्षक हमन्तवजन स यज्ञान्तलक्षण स्वाहायामि ही सम्भव है । अपचित यह है कि यह-कर्त्ता यजमान यावत्प्रायुर्भोग्यप्यस्य वैद्वलीकिक मुर

व्यन्तु' का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई भुति कहती है) — वह (अध्वयुं) होता के द्वारा ब्रह्मा मन्त्रों के क्रमिक) 'व्यन्तु, वेतु' इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समि धारणा करता है (यजन करता है) अजामिता के लिए ही। सिद्ध-को पुनः सिद्ध करता, उक्त को पुनः कहना ही आभि शेष है। इस पुनरुक्त श्राप की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु, अधवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इसरूप से यजन किया जाता है, यही तात्पर्य है। इसी तात्पर्य को स्पष्ट करती हुई भुति कहती है कि) वह अध्वयुं (अपने इस यज्ञ में) आभि (पुनरुक्तश्राप का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अधवा तो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा। (आभि शेषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु-वेतु विपर्यय का एक प्रासंगिक फल और भी है। यज्ञ से वैवासा का प्रजनन अपेक्षित है। प्रजनन क्रम योपात्मक-स्त्री-भूय, एवं वृषात्मक-पुं भूय, दोनों के साम्यत्वमात्र पर निर्भर है। व्यन्तु इस बहुवचनान्व पद से, वेतु इस एकवचनान्व पद से प्रजननसाधक-योपावृणात्मक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है। 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बहुषो जाया भवन्ति' इत्यादि भुतिक अन्तु श्राप योपात्मिका स्त्री बहुवचनार्थ से, वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है। फलतः व्यन्तु स सम्पन्नानिदान-सम्पत्तद्वारा योपा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है। इसी प्रासंगिक फल का विगृहण करती हुई भुति कहती है) — 'व्यन्तु, यह (बहुवचनान्वपद अपने बहुवचनार्थ में) निरूपयेन योपा (की प्रतिवृत्ति बनता हुआ योपा माय का संभावक) है, वेतु यह (एकवचनान्व पद अपने एकत्ववर्धर्म) निरूपयेन वृषा (की प्रतिवृत्ति बनता हुआ वृषाप्राय का संभावक) है। (व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग स योपा-वृषा क) मिथुनभाव स ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिए (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तश्राप निवृत्ति के लिए, एवं प्रजनन सम्पत्ति के संग्रह के लिए वह अध्वयुं) 'व्यन्तु-वेतु' इस (विपर्यय क्रम) में (ही) यजन करता (करना चाहिए) ॥११॥

(पञ्चतु के मेरु से पाँच प्रयाज वतलाए गए हैं। इन में से शरणागात्मक बर्हिनामक चौथे प्रयाज की इतिकर्तव्यता में एक विशेष धर्म का अनुगमन किया जाता है। 'पदुपभृति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तन' तै० ब्रा० ३।१।५ इत्यादि वृष्णभुति के अनुसार मुद् की आभारमृता उपभूत नाम की मृत् में जो आभ्य लिया जाता है उस में अन्तुरूप प्रयाजधर्म तथा धनोत्पन्न अनुयाजधर्म, दोनों की इतिकर्तव्यता

पूरी की जाती है। पूर्व के २ प्रपाठके ५ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आभ्यमहणं श्रुत्वा, और अन्योन्यप्रसादान्मुखाभ्यां कंक्षितं ही होता है—“अथ वाभ्यामभ्यानि गृह्णन्त, श्रुत्वाभ्यमहणं तानि, अन्योन्यप्रसादान् गृह्णन्ते”—शत० १।२ प्र० १४ मा० १। ७ कं० १ वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, ‘अनुवा’ पात्र में आठबार करके उपश्रुत में बार बार कर के जुहु में आभ्यमहण होता है। अतुर्बार गृहीत जुहुस्मिन् आभ्य प्रसादकर्म का, एवं अष्टबार गृहीत उपश्रुत-एव आभ्य अनुवाजकर्म का सम्पादक बनता है। जुहुस्मिन् आग्नये से क्रमशः समित्-तनूनपात्-इद्-वृष्य-व सन्त-मीप्स-वर्षा-इन तीन श्रुतदेवताओं का यजन तो बिना उपश्रुताभ्य स सम्बन्ध करके केवल जुहुस्मिन् आभ्य से ही कर लिया जाता है। चौथे बर्हिर्गृह्य शारदाग के समय जुहु का उपश्रुत से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है। तीसरे प्रपाठ के समाप्त होने पर जुहु में उपश्रुताभ्य लेकर ही बीषा प्रसाद होता है। वेसा क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का निश्चिन्त-अवर्तनपूर्वक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है—

द्वितीय प्रपाठभाग समाप्तबन्धः यह अन्वपुं बीषा ‘बर्हि’ नामक प्रसाद कर्म में (जुहु में उपश्रुत से) आभ्य ग्रहण करता है। बर्हि निरवयव (उत्तरोत्तर वृद्धयर्थम्) प्रसाद, आभ्य रेत (बीप्स) है। (बर्हिर्वाग में जुहु में उपश्रुत स आग्नये लता द्रुमा) अन्वपु बर्हिरूप प्रसादों में ही आभ्यरूप रेत का सिद्धान करता है (बीप्साधान करता है)। इस सिक्त रेत से (हो) प्रसाद पुन पुन जन्म लिया करती है। इसी लिए बीषे बर्हि नामक प्रसाद में (जुहु में उपश्रुत से) आग्नये लता है। (ताम्यर्ष्यं वन्तुव यह है कि, प्रसाद कर्म के लिए जुहु से पाँच आहुतियों की जाती हैं। अथर्व ही पाँच आहुतियों के लिए जुहुस्मिन् आग्नयेमात्रा अपरिहार्य है। अतएव प्रसादकर्म के मध्य में एक बार उपश्रुत से आभ्य लता आवश्यक हो जाता है। कथं ज्ञेया १, यह प्रश्न है। ‘वसन्तो अन्वपु, वर्षा, व वेसा श्रुतव’—‘शरत्-इमन्त-शिशिर, ये पितरः’—शत० १।१।१।१।१ इत्यादि भूति के अनुसार अग्निशास्त्रप्रधाना अतएव दक्षदेवतारिणका वसन्त-मीप्स वर्षा, इन तीन श्रुतों का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं मासप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतारिण का-शरत्-इमन्त-शिशिर, इन तीन श्रुतों का एक स्वतन्त्र मौस्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-मीप्स वर्षात्रुगं समित्-तनूनपात्-इद्-इन तीन प्रसादों का तो अभिचित्रितरूप में बिना उपश्रुत स द्वारा आभ्य लि० ही यजन करना प्रह्वेयम माना जाता है। पाँच प्रसाद स विंशतीव बर्हि नाम की सौम्यश्रुत का उपक्रम

होता है। अतएव इसी में आभ्यप्रवृत्त करना सुसंज्ञित बनता है। इस के साथ ही निदान भावसे प्रजाओं में रेत-सेक भी होजाता है, जोकि दैवात्म्यप्रजनन में अपनी प्रपन्नता रख रहा है। इसीलिपि अतुर्बप्रयाज में ही आभ्यसमानयन किया गया है, जैसा कि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है) ॥१६॥

(अतुर्बप्रयाज में आभ्यप्रवृत्त करना अतुल्यरूपानुगत दमता हुआ प्रकृत्य-
नुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है, इन दो अतिशयों के अतिरिक्त इस
के वहाँ प्रवृत्त का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसी का विरलेपण करती हुई
भुति कहती है)—जो अण्वयुं इन पाँच प्रयाजों से (अतुर्बों का) यजन करता है,
वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्बत्सरमण्डल में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के
लिए) सभाम ही ठान रहा है। वो वृत्तों के सभामामिमुख होने पर जिस एक दल
को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीत जाता है। (टीका इसी के अनु-
संग वह आभ्य-प्रवृत्तकर्म है) इस आभ्यप्रवृत्त कर्म से जुद्ध का उपसृष्टाभ्यरूप
मित्र मिल जाता है। (जुद्धस्थित आभ्य वह सेनावल है, जिसे असुरपरामभ करना
है। उपसृष्ट स्थित आभ्य वह मित्रसेना है, जिसके सहयोग मिलने पर असुरपरामभ
निमित्त है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिए (भी) चौबे 'चर्दि' नामक प्रयाज
में ही आभ्यसमानयन करता है ॥१७॥

(प्रयाजकर्म वह सभाम कर्म है, जिस के द्वारा यजमान के स्वगच्छभोक्ता
दैवात्मा के भोग्य सम्बत्सर में से असुरों को पराजित करता है। शत्रु को निर्बल
बनाता ही शत्रुपरामभ का मूलकारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति, स्वस्थानस्थिति,
आदि अन्तान्य कारणों में से शत्रुपरामभ का एक यह भी अभ्यतम कारण माना
गया है कि, शत्रुसत्ता में भयनीति डालत हुए उस अपनी सत्ता में मिका लना। उस
के बल को अपना भोग्य बना लन से अवश्य ही वह निर्बल होजायगा। इसी एक
कार प्रयोजन का स्वीकरण करती हुई भुति कहती है)—यजमान जुद्ध को लक्ष्य
बना रहा है। यजमान के लिए जो शत्रुता करता है, वह (यजमान के शत्रुत्व)
उपसृष्ट को लक्ष्य बना रहा है। (अर्थात् जुद्धस्थित आभ्य निदानम यजमान का सौ-
म्य है, (उपसृष्ट स जुद्ध में आभ्य होता हुआ (अण्वयुं छेप करनेवाले शत्रु (सना-
रल) को यजमान के लिए ही यत्निरूप से आकर्षित करता है (शत्रुत्व का यजमान
त्व से समावृत्त करता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है)। अपिच (एक
प्रयोजन यह भी है कि)—जुद्ध कत्ताभाव को, उपसृष्ट आभ्यभाव को लक्ष्य बना
रही है। (उपसृष्ट स जुद्ध में आभ्यप्रवृत्त करता हुआ) अण्वयुं भोक्ता यजमान के

लिपि मोक्ष सामग्री पहुँचा रहा है। (इस प्रकार प्रकृत्यनुगत शत्रुभाव, प्रजाकर्ता के धीव्यावान, मित्रसेनाप्राप्ति, शत्रुबल की मित्ररूप में परिणति, मोक्षसम्पत्प्राप्ति, इत्यादि अनेक दृष्टियों से भी प्रयाज में ही आत्म्यग्रहण करना आवश्यक बनता है) - 'तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति' ॥१८॥

(उपश्रुत, और सत्रस्थ आर्य मित्रानेन शत्रुसैन्यबल है, यह कहा गया है। साथ ही उस आत्म्य के समानयन का यह भी फल-वतलाया गया है कि, शत्रुसैन्यबल को मेवनीतिद्वारा यह अपना वलि बना लेता है। मेवनीति स सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार सभी सफल होता है, जबकि सैन्यबल के सम्पर्क में न जाकर तत्स्थ रहते हुए, अपने स्थान में रहते हुए, प्रबल रहते हुए ही परोक्षरूप से उसे अपने दल में मिलाया जाय। निकटसम्पर्क में जाना शत्रुबल में पसना है। और सम्भवतः पसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिए) वह आत्म्य (शत्रु में उपश्रुत से आत्म्यग्रहण करने की कामना रखता हुआ) शत्रु को उपश्रुत से प्रबल रखता हुआ ही आत्म्यसमानयन करता है। यदि वह आत्म्य शत्रु को उपश्रुत से मिला देगा, (स्पर्शकरता हुआ आत्म्यग्रहण करेगा) तो (अपने इस अवसरान से) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा (शत्रुसेना में अपनी सेना का बल डाल देने वाला बनता हुआ इष्टाधन के म्यान में अतिष्ठ कर बैठेगा)। (इसके अतिरिक्त इसी अवसरान में) वह आत्म्य अत्ता (मोक्षा) का आचम से मिलावेगा (मोक्षा को मोक्ष के आधीन करेगा, जबकि मोक्ष का मोक्षा के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है। पसा न हो) इमक्तिम अवसर्गम् (शत्रु का उपश्रुत स पसा न करता हुआ) ही आत्म्य ग्रहण करता है (करता चाहिए) ॥१९॥

(उपश्रुत के साथ स्पर्श न करात द्रुम शत्रु में अब उपश्रुत से आत्म्य ल लिया जाता है ता शत्रु का किस स्थिति में रहना जाय?, यह जिज्ञासा इसलिए होती है कि, शत्रु-उपश्रुत, बाना स के सामान्यपवन सहयोगिनी मानी गई है। क्या शत्रु का उपश्रुत स अ पसा में आत्म्य-दाय में लिपि रह?। भूति बदती है-नहीं। अविनु) आत्म्यग्रहणान्तर (अथ) वह आत्म्य श्रुतिताम्या उस शत्रु का उपश्रुत के उपर (उपश्रुत स न लिपिता हुआ) काम रहता है (उपश्रुत स अपने प्रश में ही शत्रु का दाय में लिपि रहना चाहिए)। (शत्रु को उत्तरा रूप स रहता हुआ) आत्म्य पजमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को अत्ता ही रहता है। अत्ता का आचममुपस्थिति स अत्ता ही रहता है। तात्पर्य, शत्रु निश्चयन यजमान है, भाना है। उपश्रुत यजमानशत्रु है आश है। एमी स्थिति में शत्रु का उपश्रुत स भी

रक्षता-यजमान को, मोक्षा को यजमानशत्रु के, भोम्य के नीचे रक्षता होगा, जो मन्त्राधिकार है। 'पेसा न हो, अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊँचा रहे, मोक्षा भोम्य के ऊपर रहे'—'तस्मादुत्तरा जुहुमभ्युहति' ॥२०॥

(१५ वीं कश्चिका से आरम्भकर २० वीं कश्चिका पर्यन्त ६ कश्चिकात्मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली ध्यन्तु-बेतु, पतुर्वप्रयाज में आम्भसमानयन, अनवमर्गापूर्वक समानवम, आम्भसप्रदानान्तर जुहु का उत्तर अभ्युह, आदि विशेषताओं का सोपपत्तिक निरूपण किया गया। अब स्वाहायागात्मक इमन्तयाग नामक पाँचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक पुरोहितिक आख्यात्मक के द्वारा विस्तरेण करती हुई श्रुति कहती है)—“(मीमंस्व-पेतिवासी मनुष्यविधि मीमंस्वेषताओं में प्रयाजों से सम्बन्धस्वरमरुत-प्रतिकृतिरूपा मीम-त्रिकोकी पर अपना अधिकार कर लिया। वेचता खींच गए, असुर पराजित होगे। इस विजय प्राप्ति के अभ्युहवितोत्तर काल में ही) उन वेचवेचताओं में परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्त्रण्य प्रकट किया कि, क्या ही अच्छा हो (इन्त), यदि अपन (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार में आप हुए पक्ष) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म पूरा कर दामें। (पसा करने से, वहीं यज्ञ को सर्वात्मनापूर्ण करने से, पक्ष यह होगा कि) यदि इस के अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्धयनन्तर) असुर-राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (बिज्ज डालेंगे), तबभी अपना यह यज्ञ पूर्ण ही बना रह जायगा। इसी निश्चय के अनुसार ॥२१॥—

उन यज्ञवेचताओं में पाँचवें प्रयाजानुष्ठान में 'स्वाहा', कार से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इस से आग्नेय आम्भभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा सोमम्' इस से सोम्य आम्भभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इस से, मीमा कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोहारा होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥२१॥—

(पील्लमामेष्ट, किंवा श्रौष्टि, के अनुरूप जो यजनीयव्यवस्था विहित है, अच्छा मीमा) यज्ञताकमानुसार यजन कर लिया। 'स्वाहा यथा आम्भया' इस से यज्ञानुयाज-व्यवस्थाओं को पूरा कर लिया। प्रयाजानुयाज व्यवस्था ही (श्रुत-इत्येव ही) तो (आम्भ्यादुति के कारण) आम्भया (घृतपान करने वाल) है। 'तुवासी अग्निराम्यस्य बेतु' इसमें त्विष्टङ्ग् अग्नि को पूरा कर लिया। अग्नि ही

स्वीकृत है—“अग्निर्हि स्वीकृतः” ॥ (आस्थान का विशिष्टीकरण तो विवेचना प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है। प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त होगा कि, प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आभार पर विठासमान वैषयज्ञ का अनुगमन सर्वप्रथम भीमस्वर्ग निवासी भीम-मनुष्यविध-देवताओं में किया जा। उनके यज्ञकर्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे। कभी कभी इन असुराक्रमणों से भीमदेवताओं का यह यज्ञकर्म अधूरा ही रह जाता था। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए देवताओं में जिस तात्कालिक प्रयात्नी का आविष्कार किया, उसी का आस्थान द्वारा स्वीकृत हुआ है। प्रयाजवागन्त में उस प्रयात्नी के अनुगमन से उन का यह एक प्रकार से इसलिये पूर्ण हो गया कि, कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है, उन सबका स्वाहाकारान्तक पञ्चमप्रयाज कर्म में अनुकल्प है। अतएव स्वाहान्तक पञ्चमप्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिविधि बन रहा है। भान लीखिए, कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित हो गया, जिससे प्रयाजानन्तर यज्ञराम अन्य यज्ञेतिकर्तव्यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजान्त कर्म व्यर्थ जाता जायगा?, पूर्णयज्ञ द्वारा जो अतिराध इम मिलने वाला था, क्या उस से यह सर्वथा वञ्चित रह जायगा?। मुक्ति कदाही है—सही। पञ्चमप्रयाज में जिस इति-कर्तव्यता का अनुगमन किया जाता है, वही ॥ अराध ॥ इसे वह यज्ञातिराध प्राप्त हो जाता है, जिस के लिए इसे प्रयाजानन्तर अस्थान्य राध कर्म और करने पड़ते हैं। असुर बिन्नों से संश्रय भीमवृत्ता भी तो इसी प्रयात्नी से प्रयाजान्त कर्म से ही यज्ञेतिकर्तव्यता पूर्ण बना कर ले) —

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित, भीमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आविष्कृत उसी प्रयात्नी—पद्धति—के अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आश भी (यज्ञमान का) यह (इष्टितकथन वैष) यज्ञ, उसी प्रकार (तथैव) पूर्ण हो जाता है, जैसे कि (जिस पद्धति के अनुगमन से) इस यज्ञ को (अपूर्ण भी यज्ञ को) भामवृत्ताओं में पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारान्त अन्तिम-पौषवे-प्रयाज से सम्बन्ध रखन वाली पूर्ण प्रतिज्ञात विरोधता है। स्वाहात्मिका पद्धति से सम्बन्ध रखन वाली उस उक्त विरोधता के अनुगमन से प्रयाजान्त में ही यज्ञमान का यह अहत्मन भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसी लिए (अहत्मन भी यज्ञ की मध्य में ही—प्रयाजान्त में ही—कृत्स्नता सम्पादन के लिए) वह अ पयु' पौषवे प्रयाज में 'स्वाहा-स्वाहा' पूर्वक जितनी भी इष्टि होती है, उन सब

का यजन करता है। (यज्ञपूर्णवाप्रवर्तक अग्न्याग्न्य समी समाह्व देवताओं के लिए अहुति दत्ता हुआ, तद् द्वारा सर्वसंप्रदाह करता हुआ हेमन्तयाग का यजन करता है)। इस (स्वाहा-स्वाहास्मिका सर्वदेवयजनास्मिका पञ्चम प्रयाजाहुति के प्रमाण) से वह अग्न्यु (पञ्च-प्रयाजयाग से) विजित यज्ञ सम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर जाता है—‘तदनु सर्वं यज्ञं संस्थापयति’ ॥

(यह नियम है कि, जबतक यज्ञोत्तिकर्तव्यता पूर्ण नहीं हो जाती, तबतक गमनागमन-भाषण स्पर्श-आदि के सम्बन्ध में विरोध नियमों का अनुगमन करना पड़ता है, वैसे कि—‘अनवसुरान्तस्मानयति’—‘न वै सर्वेषु संवेदन’ इत्यादि आदेशों से स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण होजानेपर इन नियम-बन्धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अन्तिम प्रयाज यागानन्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इस से आगे जो भी शेष कर्म बच रहते हैं, उन के सम्बन्ध में नियम-बन्धन का विराप महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी नियम का उल्लंघन हो जायगा, तब भी कोई अनिष्ट न होगा यही वात्सर्ष्य है। इसी का विरलेपण करती हुई भुवि कहती है—(प्रयाजाग्न्य कर्म यज्ञपूर्णवाप्रवर्तक है, नियमानुगमन कर्तव्यतापर्यन्त ही अपेक्षित है) इसलिए इस से आगे (प्रयाजकम्मानन्तर होने वाले कर्मों में) अस्विक् (किंवा यजमान) यदि (अपन स्वाभाविक अनुवभाषण) कुछ विलास (असावधानी) कर बैठे, तो उस विराप महत्त्व नहीं देना चाहिए। उस से (प्रयाजानन्तर) यह समझ लेना चाहिए कि, मरा यह यज्ञ कर्म (य प्रयाजयाग स ही) पूरा होगया—‘संस्वितो यज्ञ इति ह विद्यात्’।

(स्वाहाहुत एवं वपटकृत यज्ञ जैसे वातयाम-गतरस-वन जाता है, तदनु प्रयाजतएव यह इष्टिकर्म, किंवा इष्टियज्ञाग्न्यमुक्त प्रयाजकर्म भी वौषट्-स्वाहा-मन्त्र्य से वातयाम बन जाता है। वौषट्कार वाक्स्मयज्ञ के अवसान का सूचक है। स्वमन्त्र स्वाहाकार भी ‘स्व वापमाह’ निर्बचनानुसार वाक्स्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है जैसा कि विवचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जान जाता है। वाग्मय का वाक्स्मय वपट्कार, वाक्स्मय स्वाहाकार से निर्गमन होजाता है। यही वाक्स्मय यज्ञ का रसरूप बन जाना है। असा मीरस यज्ञ ही गतरस बनता हुआ वातयाम कहलाया है। वपट्-स्वाहा-मन्त्रप्रकाश-धुलोफ की ओर गत-वाग्मय-यागनिमय-गतरस यज्ञपूर्णता-समाप्ति-के अन्तर पुन यज्ञमानात्मा में प्रविष्ट राजाय, इस पुन रमप्रवरा से वातयाम यज्ञ पुन अवातयाम-वाग्मयपरिपूर्ण-बन जाय इस प्रयोजन के लिए एक ‘मिष्टकृणाग’ नाम का कर्मविरोध विहित है।

वागमि ही शेषाहुति से उत्पन्न होकर यज्ञ को 'स्विष्ट'-रसयुक्त बनाते हैं। अवतण से 'स्विष्टकृत्' कहा जाता है। अवतण सदाहुतिकर्म 'स्विष्टकृत्वाग' कहा जाता है। यज्ञ-प्रयाजकर्म से सम्बन्ध रखने वाली बौपद्-स्वाहा व्याहृतियों से आज प्रस्तुत यह भी यातयाम बन रहा है। 'स्विष्टकृत्वाग' होता है—यज्ञान्त में। ऐसी दशा में इस की वर्तमान यातयामवा के निराकरण का क्या उपाय ? इसी प्रश्न का ऐतिहासिक कारणानुगत स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई भुति कहती है—

। जिस प्रकार वपदकृत हुत, स्वाहाकृत हुत (बौपद् स्वाहा पूर्वक की जाने वाली आहुति से युक्त कर्म यातयाम बन जाता है, इसी प्रकार बौपद्-स्वाहापूर्वक आम्वाहुति होने से प्रयाजान्त से संस्विष्ट होने वाला) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया (यज्ञ का वाग्वत्स्य गुणोक्त की ओर चला गया) ॥२३॥

(इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्विष्ट-पूर्ण होने वाले यज्ञ को बौपद्-स्वाहा-कार के सम्बन्ध से यातयाम बना देना कर) उन भीम दैवताओं ने यह कामना प्रकट की (विचार विमर्श किया) कि, अपने कैसे इस (नीरस) यज्ञ को पुनः आत्मापित (रस से परिपूर्ण) करें ? (रस समावेश के द्वारा कैसे-किस पद्धति में इस अयातयाम बनावें ? एवं अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवनयात्रा का निर्वाह करें ? ॥ ४॥

(अपनी उक्त कामनाओं की काम्यरूप में परिणत करने के लिए, यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिए, उन दैवताओं ने यह किया कि) सो प्रयाज-हुति के अनन्तर जो आम्वाभात्रा जुहु में बची रह गई थी, जिस जुहुस्विष्ट आम्वा (आम्वाहुति) से दैवताओं ने (प्रयाजभाग के द्वारा) यज्ञ पूर्ण किया था, उसी (आहुत्यनन्तर बाकी बच हुए लक्ष्य) आम्वा से ही यज्ञापूर्व- (अन्तिम प्रयाज विहित आहुतियों की भाँति लक्ष्यदैवताओं के लिए) आम्वा इवियों का आपार करत हुए (यातयाम बन हुए उन वाग्मय यज्ञों का पुनः आत्मापित कर दिया, अयातयाम बना दिया। आम्वा (वागमि रसात्मक होने से) अथर्व ही अयातयाम रसपूर्ण होने में स्वयमपि अयातयाम, अथर्व यातयाम में भी रसप्रदान करता हुआ यज्ञ भी अयातयाम बनाने वाला) है। (इस प्रकार भीम दैवताओं ने परिशिष्ट-अयातयाम-आम्वाहुति से यातयाम यज्ञ को पुनः अयातयाम बना लिया। दैवमयत्त यज्ञमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी बौपद्-स्वाहा-द्वारा हुत होने से आज यात-भाग बन गया) इसीलिए (हम पुनः अयातयाम बनाने के लिए ही) उत्तम (पौत्रर्षी)

द्वितीय । इसी प्राणसमिन्धन कर्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए भुक्ति ने कहा है—समिधाएँ निम्नयेन प्राण्यं हैं । (इस समिधागकर्म से—प्रथमप्राण से) वह अण्वयु (देहात्मा के आध्यात्मिक भी) प्राणों को ही प्रवर्तित जीवमीधरस स पुच्छ-करता है । (समिद्ध) प्राणों से ही यह पुरुष (शरीरपुराभिज्ञाता आलोचक, आनन्दप्रिय, सर्वाङ्गरासी में व्याप्त शरीरात्मिनी चित्तिभेदान्निमृष्टि प्राणात्मा-कर्ममात्मा) समिद्ध है । (क्योंकि समिधाग से यजमानात्मा के प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिधाग से आग्नेयताप भी एक बिरोध प्रक्रिया से हटाया जासकता है, यही इस समिधाग का काम्यफल माना गया है । प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणान्नि केन्द्र से विच्युत होजाता है । प्राणान्नि केन्द्र से विच्युत होकर शरीरात्मिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की परमावस्थाही उष्णता-सञ्चय सन्ताप-ज्वर-दाह-है । यदि इस समय यजमान उपतापी है, यजमान को ज्वर है, तो समिधाग के द्वारा वह हटाया जासकता है । इसी अग्निप्राय संभुति कहती है—(क्योंकि पुरुषान्नि प्राणों से समिद्ध रहता है, इससे समिधाग प्राण समिन्धन की) इसप्रकार वह अण्वयु (होताके द्वारा प्रयुक्त समिद्धेवताक वाय्वात्मन्त्र के साथ होने वाले अपने समिधाग कर्मानुष्ठान काल में) यजमान से वह प्रपै वर (वह) कि वह यजमान । इम (समिद्धद्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करते हुए) अपने शरीर का स्पर्श करो, यदि यजमान उपतापी हो तब । (अर्थात् उपतापवशा से ही यजमान को स्पर्श करना चाहिए) । (साथ ही स्वयं अण्वयु भी वही भावना करे, इसी अण्वयु स्व भावना को स्पष्ट करती हुई भुक्ति कहती है)—यद् वह यजमान उपताप हो, तो अण्वयु भी वही आरासन (ध्यान कर (क्योंकि, इस मरे स. म. प्राण से प्राणसमिन्धनद्वारा यजमान का ताप शान्त हो) । (अण्वयु के इस आरासन से, साथ ही अपनी भी भावना से) वह यजमान (अक्षरवत्त्व) समिद्ध हो जाता है । (प्राणसमिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए बाह्यतापशान्ति के कारण बन जाते हैं) । यदि यजमान शीत (ताप रहित, स्वल्प) है, तो (उस वरामें न तो) यजमान अपना स्पर्श ही करे, एवं न अण्वयु आरासन ही करे । (इस प्रत्यक्ष उपपत्ति से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, समिध अक्षरवत्त्व आध्यात्मिक प्राणों को समिद्ध करती हैं) अतएव (कहा जा सकता है कि) अपने इस समिधाग से (अण्वयु यजमानात्मा से (स्थित) प्राणों का ही समिन्धन करता है । (पूर्वजाग्रत में प्रतिपादित आधिदैविक सम्प्रसार के प्रथम यजमान पर्वसमिन्धन के साथ साथ) आध्यात्मिक प्राण समिन्धन-कर्मप्रतिष्ठि के लिए (भी) यह समिधाग करता है ॥१॥

(२)—यह (अध्वयुः समिधाग के) अनन्तर (होता के—‘तनूपाद्यम् आत्पस्व वेदु बीपद्’ इस तनूपाद्येवताक आम्नामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके ‘बीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयामि के समिद्ध प्रवेश में आम्नाहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे) तनूपात् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। तनूपात् निम्न से रेत (बीप-शुक्र) है (क्योंकि सप्तम बाहुभूत रेत ही शरीर को न गिरने वगैरे हुआ तनूपात् है)। (इस तनूपाद्याग से) यह अध्वयुः (देवात्मा में प्रवर्तमान धर्म के समावेश के लिए) रेत सेक ही करता है। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्पत्सर के द्वितीय वीप्य पर्वसमिन्धन के—साथ साथ) आध्यात्मिक रेत सेक प्राप्ति के लिए (मी) यह तनूपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

(३)—यह (अध्वयुः तनूपाद्याग के) अनन्तर (होता के—‘इहो अम् आम्नाम्य इत्यु बीपद्’ इस इहोवताक आम्नामन्त्र के उच्चारण करने के अनन्तर उस के ‘बीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयामि के समिद्ध प्रवेश में आम्नाहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे) इद् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। इद् निरक्षयेन प्रजा है। जिस समय—(नक्षमासानन्तर ‘एवपावकद्’ नामक प्रसववायु की नीवना से, नक्षमास पूर्व सोपामि में धृषा द्वारा) सिद्ध रेत (प्रजारूप से) उत्पन्न होता है (भूमिष्ठ बनता है), उत्पत्ति के अन्त्यवहितोत्तरक्षण से ही यह (उत्पन्न प्रजा) (अन्नकामना से) इहमयी—(अन्नमयी) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई बिचरने लगती है (उत्पन्नान्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त होजाती है)—(तनूपाद्याग के द्वारा सिद्ध रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है, प्रजनन उत्तरमायी, साथ ही इद्-अन्न-ममिमुख है। अतएव अन्नेवजात्मक इस उत्तरमायी प्रजननकर्म के लिए ही तनूपाद्यागानन्तर इद्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्पत्सर के तृतीय वपापर्व समिन्धन के साथ साथ उत्तरमायी) आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर मुक्ति कहती है कि) इस (इहयाग से) यह अध्वयुः (विध्य प्रजा को) ही उत्पन्न करता है। इसी लिए (प्रतीत्यत्ति के लिए) इहयाग करता है ॥३॥

(४)—यह (अध्वयुः, इहयाग के) अनन्तर (होता के—‘वर्हिर्मन् आम्नाम्य वतु बीपद्’ इस वर्हिर्वेवताक आम्ना मन्त्र के उच्चारण करने पर उस के ‘बीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयामि के समिद्ध प्रवेश में आम्नाहुति द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) वर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। वर्हि निरक्षयेन भूमा

प्रयागवाक्य कर के (करने के अनन्तर दुःशेष आत्म्य से) यथापूर्व इवियों का आ-
 धार करता है। इस आधार कर्म से यह देवताओं को पुनः आप्यायित, अयात-
 याम करता है। आत्म्य (पूर्व कथनानुसार) अवरय ही अयातयाम है—‘अयात-
 याम आत्म्य’ ॥ (शेष आध्याधार से यातयाम यह आप्यायित होता हुआ अया-
 तयाम बन जाता है) अतएव (यक्षपद्धति में यह नियम बन गया है कि) जिस
 किसी भी देवता के लिए (वेवात्मक यक्षकर्म के लिए) अस्मिन् इवि का विभाजन
 करता है (प्रधान करता है), उस के सम्बन्ध से तच्छेष के पुनः स्विष्टकृत् (पतन्ता
 मक अग्निविशेष) के लिए अभिधार करता है। (इस अभिधार से) वह उस यक्ष
 को पुनः आप्यायित, अयातयाम बनाता है। यदि स्विष्टकृदग्नि के लिए (अयात-
 यामसम्बन्ध प्राप्त्यर्थ) इवि का विभाजन पहिले से ही कर देता है, (तो उस अ-
 स्मा में) पुनरभिधार अनावश्यक है। (तात्पर्य इस कथन का यही है कि—कृत्स्न
 इष्टि कर्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदग्नि के लिये भाग नियत रखा है। अतः
 अस्की समाप्ति पर पुनरभिधार नहीं होता। अभिधार तो वहाँ आवश्यक है, जहाँ
 पहिले से स्विष्टकृदग्नि के लिए अवधान विहित नहीं है। प्रकृत स्पष्ट ऐसा ही है। अतः
 वहाँ अवरय ही अभिधार अपेक्षित है। जहाँ पहिले से अवधान नियत है, वहाँ आ-
 हुतिकर्म समाप्त्यनन्तर) अग्नि में ओर किसी इवि की आहुति की अपेक्षा नहीं
 रखता है। (अपेक्षा नहीं रह जाती)—“नो हि तत् काञ्चन इवियोऽन्ताबाहुति
 शीघ्रम् भवति” ॥२३॥

इति-प्रयागवाक्यम् (३)

पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त

(१११३)—(१११४)

(१—त्रिब्राह्मणव्याक्य प्रयागब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त)

प्रेयमकारण में पौनर्व्ये अम्बाय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पौनर्व्ये आद्य
(१११४)—(१११५)^१ । । । ।

(२—त्रिप्राज्ञात्मक प्रयाजप्राज्ञाय में क्रम प्राप्त द्वितीय प्राज्ञाय

४—प्रयाजावृत् (पद्धति) ।

प्रकृत प्राज्ञाय में प्रयाजावृत् (पद्धति), और प्रयाजानुमन्त्राय, इन दो प्रकर्यों का समावेश हुआ है, जिन्हें पूर्वप्राज्ञायोक्त तीन प्रकरणों (१—प्रयाजवन्धु, २—उत्तरप्रेष, ३—प्रयाजप्राज्ञाय, इन तीन प्रकरणों) की दृष्टि से—४—५ में प्रकरण मान जासकता है । इन में चौथे प्रस्तुत प्रयाजावृत् प्रकरण में प्रकारान्तर से उस क्रमि पद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिस का पूर्वप्राज्ञाय के 'प्रयाजप्राज्ञाय' नामक ५ तीव प्रकरण की ८ वीं कविका सं १४ वीं कविकापर्यन्त ७ कविकाओं में विभि र्दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है । उस पूर्वपद्धति प्रकरण में बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आभिवैदिक सम्बत्सरमकाल का । एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानत आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है । पद्धत्या सम बत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है । इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित भुक्ति-प्रकरण का सम्मन्वय करना चाहिए—(वैवा प्रकरणसङ्ग्रहि) ।

(१)—यह (अम्बायु नामक अस्ति होताके—'समिद्धो अन्न आग्नस्य अन्तु बीषद्' इस समिद्धे बलाक आग्न्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उस के 'बीषद्' उच्चारण के साथ आहवनीयानि के अस्मिन्-अन्वक्षित-भाग में स्फुटित आ-व्यावृत्ति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिद्धा समित् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्याग सम्पादन करता है) । (समिद्याग क्यों किया जाता है ?, प्रसन्न की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई भुक्ति कहती है कि, सुगादापनकर्म से वैवा स्या में जिस ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है, वैवात्मप्रतिष्ठित उस प्राणों के समिन्धन के लिए ही, आध्यात्मिक-मायसमिन्धन के लिए ही-यह समिद्याग वि

० 'समिद्धोऽनेन होव समिद्धाः (उर्गुदा वा) आहुतवा'—उत्त० ७।१।३७ ।

१ "वा वाह्यता मन्वाहृतयो (सुगादापनियदमन्त्र) अन्वक्षित । नवेमे पुनरे प्राणाः । एतानेवासिन् (बहाविउपबधने देहात्मनि) एतत् (सुगादापनकर्मना) ददाति"—उत्त १।५।१५ ।

(बहुस्वसम्पत्ति से युक्त) है । (वहि-वर्म-का भूमाभाव इस के संख्या बहुस्व पर, एवं इ इणधर्म पर ही अवलम्बित है) । (उत्पन्न प्रजा का भूमा प्रजावृद्धि रूप से भी अभीष्ट है, एवं प्रत्येक प्रजा के बहुवशी भाव से भी अपेक्षित है । इत्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है । अथ अपेक्षित उभयविध भूमा-भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आपान होना चाहिए । वहि भूमाधर्म से युक्त है । पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आ भिदैविक सम्बन्ध के चतुर्थ शत-पूर्व समिधन क साथ साथ) आभ्यात्मिक इस भूमाभाव-कृत प्राप्ति के लिए (भी) यह अप्ययुं वहि का यजन करता है । ॥४॥

(४)—बह (अप्ययुं, वहिर्वांग के) अनन्तर (होता क—“स्वाहाम्नि, स्वाहा सोमम्, स्वाहाम्निम् स्वाहा वेर्षो आम्भपान्, स्वाहाम्नि होत्रा सुपाया-अम्भ आम्भस्य व्यन्तु वीपद्” इस स्वाहा वचनक आम्भा मन्त्र क उच्चारण करने पर उस क ‘वीपद्’ उच्चारण के साथ आहवनीयाम्नि के समिध प्रदश में आम्भा वृत्ति के द्वारा क्रमप्राप्त पौर्णवे) स्वाहा-स्वाहा (नामक प्रयास) का यजन करता है । (वसन्त-वीष्म-वपा-शरत्-इमन्त, इन) पांच ऋतुओं का निरन्तर हेमन्त स्वाहा कार (अन्तिमपक्ष) है । (अपने स्वामाधिक कटु स्पर्श से) इमन्त ही इस (पार्थिव प्रयाग) को अपने बरा में कर लेता है । इसीलिए ही (हेमन्ताक्रमण से स्वविक्राम लक्षण स्वानम्य होने से ही) हेमन्त ऋतु में ओपधियों स्नान (मुकुलित) होजाती है, वनस्पतियों के पक्षे मद्ध जाते हैं, पक्षिण्य अतिराम्यरूपेण शीखकाप बन जाते हैं, (शीखकाप बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से, तथा अपने पौंसलों का) य (पक्षी) पट-पट सींचे गिरने लगते हैं, पुरुष समुदाय मुखिह्वत्करापुरुष की भाँति हलमी बन जाता है—(प्रवीत होने लगता है) । इस प्रकार (इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि) इमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रयाग को अपने अधिकार में कर लेता है (किए हुए हैं) । (जिसप्रकार एक समर्थ-दल बान्-योग्य व्यक्ति अपने दल पर अधिकार करता हुआ दल क द्वारा भी-बिताम-स्यति, एवं आम्नाय-अम्भसम्पत्ति का अन्यतम मोक्षा बन जाता है, एवमेव इमन्त यागकता भी अपने समाज का भला बमता हुआ भी-वीर अन्नाय का अन्यतम मोक्षा बन जाता है । इमन्तयाग क इसी पक्ष का अपने शत्रुओं में अभिनय करती हुई मृति कहती है)—बह यजमान जिस अर्थ (समाज) में रहता है, उस अर्थ को भी, वीर अम्नाय क लिए स्वीकृत कर लेता है (उक्त समाज को अपने बरा में कर लूँकारा अभीष्ट भी-अम्नाय प्राप्त करने में समर्थ होजाता है) जाकि यजमान (साथ ही यजमानवत् इतिगा क परिगृहीत प्रयागकता अप्ययुं भी) इमन्त क

(उपजपण) सर्वाभिपत्य को जान सता है । (ह्यन्त्यायाग का व्याख्यात्मक रूप सर्वाभिपत्यमात्र प्राप्ति ही है यही तात्पर्य है) ॥५॥

इति प्रयाजपूत (पद्धति)- ४ ।

५- प्रयाजानुमन्त्रण

प्रस्तुत प्रयाज कर्मा में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है । पाँच प्रयाजों के छिद्र हावक ईक पाँच प्राग्या मन्त्र हैं, जिन का पूष के प्रयाजाहूत प्रकरण में स्वीकृत किया जा चुका है । पाँच प्राग्या मन्त्र 'प्रयाजमन्त्र' हैं । जिन समय १-२-३ ४-५-क्रम से होता पाँच प्राग्या मन्त्रों का उच्चारण करता है, उस समय प्रत्येक प्राग्यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगमन्त्र का उच्चारण करता है । यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने देवता का साथ सम्बन्ध कराता है । अतएव यजमानक ईक ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाते हैं । उन पाँचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्न विहित है—

(१)—होता—“समिद्धो अग्न आग्वरः स्वर्गु बीषद् —यजमान—“इदं समिद्धो न मम । एको मम, एका तरः समर्द्धो द्वेष्टि योजमान् द्वेष्टि पंच बर्द्धेष्टम् । विधिमान् भूषात्तम् (समिद्धमन्त्रणम्—१) ।

(२)—होता—“तानुपादमा आग्वरः स्वर्गु बीषद् —यजमान—“इदं तानुपादे, न मम । द्वौ मम द्वे तरः पंच बर्द्धेष्टम् । अर्वावीतान् भूषात्तम् (तानुपादमन्त्रणम्—२) ।

(३)—होता—“द्विषदमा आग्वरः स्वर्गु बीषद् —यजमान—“इदं द्विषदा, न मम । त्रया मम त्रिगन्तरपः—पंच बर्द्धेष्टम् । परावरी भूषात्तम् (द्विषदमन्त्रणम्—३) ।

(४)—होता—“वदिरमा आग्वरः स्वर्गु बीषद् —यजमान—“इदं वदिरं न मम । चत्वारो मम चत्वारः—पंच बर्द्धेष्टम् । मरुचर्षती भूषात्तम् (वदिरमन्त्रणम्—४) ।

(५)—होता—“स्वाहामि, स्वाहा सोम, स्वा अयन्तु वौषट्”—यजमान—
“इहमन्त्रे, सोमाय, अमन्त्रे, नमः । पञ्चमम, न तस्य किञ्चन—यं च वयं० ।
अन्नादो भूयासम्” (स्वाहा, अन्त्रणम्—५) ।

अब तक के ब्राह्मणभाग में हावकर्तृक प्रयाजमन्त्रों का, एवं अभ्यर्चक कृत्वा
आहुति-कर्म से सम्बन्ध रखने वाली अभ्यान्त्र विरोपताओं का पद्धति-प्रदर्शन
पुरस्तर निरूपण हो चुका है । परन्तु अब तक यजमानकर्तृक—‘प्रयाजानुमन्त्रण’
मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है । प्रकृत शेष ब्राह्मण भाग में उस प्रयाजानु-
मन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जा रही है । इस उपपत्ति से
सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई भुक्ति कहती है—

वववेयता, और असुर, दोनों प्राजापत्य (प्रजापति की सन्तानें) परस्पर
स्पर्धा (युद्ध) करने लगे । (दोनों ही) बण्ड, तथा धनुषों से (एक दूसरे पर)
विजय प्राप्त न कर सके (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल
सका) । (अपने आयुष्मयुक्त युद्धकर्म से) विजय प्राप्त न करते हुए दोनों में यह
निरवय किया कि, अरे माँ (इन्द्र ! मन्त्रा, अथवा सो) अपने वाग्वरुण ब्रह्म के
माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें (शास्त्रार्थद्वारा युद्ध का निर्वय करें) । (इस
मन्त्रात्मिका वाक् के युद्ध में, वाचिक युद्ध में) अपने दोनों में से सो भी—(एक
दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक् का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (मुम्मे द्वारा) धनु-
शक्त न करेगा यह द्वार जावगा, दूसरा (मिथुनभावानुगत बल) विजय माना
जावगा । दोनों ने संथा (शर्त) मान ली (लीखि) । (प्रस्तुत वाग्वरुण में इन्द्र की
ही योग्य अधिकारी मान कर) देवदेवताओं में इन्द्र से कहा कि, (हम ! और मे
इहमण्डली की ओर से) आप ही वाक्-शस्त्र का प्रयोग करें । ॥६॥

(इहमण्डलीनुमत्) इन्द्र (ही वाग् युद्ध का प्रारम्भ करत हुए असुरों का
वध करना कर) बोले—‘एका मम (हमारा एक है) । अहमाहमेका
(हमारी एक है) यह (प्रस्तुत में) असुर बोले । इस प्रथम (वाग्मय) युद्ध
कर्म से (प्रतिज्ञात सन्धानुसार) वववेयता असुर, दोनों में मिथुन सम्पत्ति प्राप्त
कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो एक और एक है । (योग्य-वृत्तात्मक अह-मुम्माव
का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है । मुम्माव एक म वृत्तात्मक मुम्माव का एवं
योग्य एक म योग्यता रीभाव का संग्रह हो रहा है । दोनों के संग्रह में
मिथुनभाव गताव बन रहा है, वही तात्पर्य है) ॥७॥

(प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'ह्रीं मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं इ' यह अमर बोले । इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो 'ह्रीं' (पुम्बाधक राज्य), 'ह्रीं' (स्त्रीबाधक राज्य) है ॥१८॥

द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'श्रयो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं सिद्धः' यह अमर बोले । इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो कि श्रयः, और सिद्ध' है ॥१९॥

(तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'चत्वारो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं चतस्रः' यह अमर बोले । इस कर्म से (भी दोनों ने) मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली । यह मिथुन ही तो है, जो कि-चत्वारः, और चतस्रः' है ॥२०॥

(चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'पञ्च मम' यह इन्द्र बोले । (इन्द्र के इस वाक्य में 'पञ्च' पक्ष के प्रत्युत्तर के लिए) अमर कोई साधन प्राप्त न कर सके । (क्योंकि कि 'चत्वारः-चतस्रः' में आगे-स्त्री-पुलिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है । अतएव) इस में आगे मिथुन का अभाव है । आगे तो- स्त्री-पुम्बाध दोनों के लिए) 'पञ्च-पञ्च' इस समान राज्य का ही प्रयोग होता है । (वस वहां आकर पूर्ण प्रतिष्ठातृ संपादक अनुसार इन्द्रप्रमुख 'पञ्च' के मिथुन की पूर्ति करने में असमर्थ रहत हुए) अमर अपना सर्वस्व (पहिले के चार मिथुन मात्र भी) हार गए । उपर स्वदेवताओं ने (मिथुन प्रयाजानुगमन में) असुरों का भी सर्वस्व जीत लिया सम्पूर्ण मिथुनों में (तत्काल प्रयाजकर्मों में) सफल असुरों को मागदत्त बना दिया ॥२१॥

(क्योंकि प्राकृतिक प्राणयज्ञ में द्वाभिर-स्पृष्टा में मिथुनमात्र के द्वारा स्वदेवता असुरों के पराभव में समर्थ हुए हैं, अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म में भी प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों में क्रमशः 'एक-एक' इत्यादि मिथुन-मात्रात्मक पक्षों का समावेश कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति-अनुपपत्ति का पाट्र सदा सम्पत्ति-पर अपना अनन्य अधिकार जमा सता है । यही अनुमन्त्रण-मन्त्रों की, एवं तत् पठित 'एक-एक' आदि मिथुनमात्रों को मौलिक उपपत्ति है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण तत्प्रकरणानुगत विषय बना प्रकरण में किया जायगा । प्राकृतिक मिथुनमात्र के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुमन्त्रण कर्म की इतिवृत्तयता यन्त्रांगी हुई धुनि कहनी है)—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रया-
साय समाप्त होना पर वह (प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र) चोखना चाहिए कि—‘एको
मयेत्येका वस्य, यमई द्वेष्टि’ (एक मेरा है, एक उनकी है, जिससे मैं द्वेष करता हूँ)।
यदि यजमान किसी को अपना व्यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है, व्यक्तिगत द्वेष नहीं
करता है, तो उस अवस्था में (‘यमई द्वेष्टि’ न पोल कर) —‘योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च
वयं द्विष्म’ (जो हम से द्वेष रखता है, जिसके प्रति हम सहज पैर रखते हैं) यह
बोलना चाहिए (इस १० वीं कविकका के अनुवाद से ही १३, १४, १५, कविककाओं
का, एवं सोलहवीं कविकका के पूर्वसमतुलित भाग का अनुवाद गवार्धन बन रहा
है ॥ १३, १४, १५, ॥

यह यजमानशत्रु (पौषर्षे प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त—‘पञ्च मम-न
वस्य किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्म’ इस प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र के द्वारा)
कबल पञ्च-पञ्च करता हुआ ही रह जाता है (उस मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं
होती)। परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवर्ग का सय कुछ जीव खाता है,
सर्वसम्पत्ति से सपत्नों को भागरहित (बहिष्ठ) कर देता है, जो यजमान प्रयाजा
नुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विद्यान को जानता हुआ वनप्रयोग
करता है ॥१६॥

इति-प्रयाजानुमन्त्रण (५)



पौषर्षे अध्याय में बीया, बीये प्रपाठक में पौषर्षा ब्राह्मण समाप्त

(११५४)—(११५५)

(२—त्रिमासिकात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रम प्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त

(पौषर्षा अध्याय समाप्त)



● जिस के साथ इस हो उस का— कामधर्मु—कोषधर्मु—कोषधर्मु कोषेयधर्मात्मक
धर्मु इसादिकार से उक्त धर्म के नाम का लम्बित्व कर देना चाहिए

(छठा अध्याय प्रारम्भ)

प्रथमकाण्ड में छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्म

(१।६।१)—(१।६।६)

(३—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमशः तृतीय ब्राह्मण)

६—प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोक्त प्रथम ब्राह्मण में (१।१।३) के 'अतवो इ वै प्रयाजा' इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकारिकात्मक भाग के द्वारा बन्तु' (प्रयाजकर्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहाँ यह स्पष्ट किया गया यह पञ्च-प्रयाजभाग सम्बत्सर में मुक्त बसन्तादि पाँच ऋतुओं पर बजमाना, अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट है कि, देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में देवताओं में अपने विशासन पाँच प्रयाजों को ही बनाया। इन पाँच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजभागः पञ्चतु' की समष्टिरूप सम्बत्सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ होकर उक्त उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजकर्म बन्तुत ऋतुकर्म हैं तुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती सम्बत्सरयज्ञ में,—जिस में साम्बत्सरिक प्राकृषि देवदेवताओं के भाग निरर ऋतुओं का (ऋतुव्यवस्थाओं का) क्या भाग है ?। दूसरी जिज्ञासा का भा सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयानि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए भ्याहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्बत्सरिक दिव्याग्नि का प्रतिरूप है। एवं सिद्ध होजाता है कि, प्राकृतिक पञ्चतु'ओं का भी (अन्य देवदेवताओं की न अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोई न कोई प्रतिष्ठित सम्बन्ध है। यह अग्निसम्बन्ध प्रकृत में विविज्ञास्य वत रहा है। इस अग्निसम्बन्ध-जिज्ञासा का यों भी अति किया जासकता है कि, ऋतुरूप पञ्चप्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पाँच भ्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन पाँचों ही मन्त्रों में 'समिद्धो अग्न आग्न्यस्य व्यस्तु० 'तनूनपावन्न आग्न्यस्य बतु०' इत्यादिरूप से 'अग्नि' का समावेस है। जबकि पाँ मन्त्रों से सम्बन्ध रखन वाली पाँचों प्रयाजाहुतियाँ क्रमशः समिद्ध, तनूनपात, इ बर्दि, स्वाहा, इन पाँच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित है, तो तदेवता याम्यामन्त्रों में 'अग्नि' पद का समावेस क्यों हुआ ?, क्यों-प्रयाजपागात्मक आग न अग्नि का भी भागहर माना गया ? तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम्

न है। प्रपात्रदेवतायाग ही 'इष्टिकर्म' है। इस इष्टिकर्म में अतुष्टों की तृप्ति के लिए दो प्रपात्र कर्म विहित हैं, एवं अतुष्टों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म विहित है। इन दोनों में प्रपात्र कर्म प्रपात्रदेवता-यागसकल इष्टिकर्म से पहिल होता है, अनुयाजकर्म इष्टिकर्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वामाधिक है कि, प्रपात्र कर्म का इष्टिकर्म में प्राथम्य क्यों है ? इन तीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आभिदैविक अनुवाक से ही सम्बन्ध है, तद्विमान ही इस जिज्ञासात्रयी का तात्त्विक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १५ वीं कण्डिका पर्यन्त ही जिज्ञासा-त्रयी का सौपपातक विस्तारण हुआ है। अतएव पञ्चदशकण्डिका तक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वतन्त्र प्रकरण माना जा सकता है, जिस हमने—'प्रपात्रों का इष्टि में प्राथम्य' नामकरण अन्तर्ब माना है। १ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वीं कण्डिका पर्यन्त तीन कण्डिकाओं में 'अभिचार' कर्म का निरूपण हुआ है, यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकात्रयात्मक द्वितीय प्रकरण है। १९ वीं कण्डिका में कृतभुक्ति का विस्तारण हुआ है, यही एक कण्डिकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १९, २०, इन दो कण्डिकाओं में प्रपात्र कर्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आत्म-देवतादि प्ररतों का विमर्श हुआ है, यही प्रस्तुत ब्राह्मण का 'परिशिष्ट प्ररतोत्तर विमर्श' नामक अन्तिम प्रकरण है। सम्मुख २१ कण्डिकात्मक प्रकृत तृतीय प्रपात्रब्राह्मण में ४ अन्तर्गत प्रकरण हो जाते हैं, जिन्हें पूर्वब्राह्मण-द्वयी में प्रतिपादित ५ प्रकरणों की क्रमिक संख्या के अनुरोध से क्रमशः ६ ७ ८ ९, प्रकरण माना जा सकता है। इस प्रकरण सङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत ब्राह्मण अनुवाक का समन्वय करना चाहिए—(सैषा प्रकरणमिति)।

(प्रपात्रयाग अनुयाग है, इस का प्राकृतिक सम्बन्धसाम्यवश में एक विरोध-प्रबन्ध-ब्रह्म है, इसी आभिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आक्यान के द्वारा विस्तारण करती हुई भुक्ति कहती है)—(बसन्तादि पाँचों मासिक) अतुष्टों ने (प्राण विष) देवताओं के साथ यज्ञ (सम्बन्धसाम्यवश आत्मनिष्ठ भातिपात्र यज्ञ) में (अपना भी) भाग पाया (अर्थात्—जिस प्रकार देवदेवताओं का ब्रह्मनिष्ठ में भाग है एवमेव अतुष्टों ने भी उस के भागीदार बनने की देवदेवताओं से कामना प्रकट की। अपनी इसी कामना को प्रकट करने हुए अतुष्टोंने देवदेवताओं से अनुरोध किया कि) आप लोग इस यज्ञ में हमें भी भागी (हिस्सेदार) बनाइए, हमें इस यज्ञ (भाग) में शक्ति मिलेगी !, (हम चाहते हैं कि, आप भागी की भाँति) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥१॥

(जिस प्रकार किसी आगन्तुक सपत्ति-भोक्ता, सम्पत्तिभाग-कामुक के जाने से, उस के विभाग मांगने पर स्वामाधिक वित्तशोभ के आकर्षण से तो सपत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस स्वाय प्राप्त मांग की उपेक्षा कर देता सुनी अनसुनी कर देता है, ठीक इसी लौकिक वित्त स्थिति के अनुसार ऋतुओं के यहभाग मांगने पर) देवताओं ने ऋतुओं की उस (-वायप्राप्त भाग कामना की पहिचाना—सुनकर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति विसर्जित, जैसे उन्होंने कुछ सुना-जाना ही) । (देवदेवताओं की उपेक्षावृत्ति का, ऋतुओं की स्वायप्राप्त मांग दुष्कर का वही परिणाम हुआ, जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है । यदि किसी को अपना 'वायप्राप्त अधिकार मांगने से भी नहीं मिलता, जो वस्तु' बिना भी मिला जाता चाहिये, तो उस अवस्था में मांगन वाले का आत्मा विद्रोही व उस वित्तभोगी-माग भोगी के प्रतिद्रव्यी-शत्रुत्व में आ मिलता है । यही ऋतु किता । इसी प्राकृतिक धर्म का विरोध करती हुई भुक्ति कहती है) प्रायः देवदेवताओं के इस प्रकार (अपनी मांग के) न जानने पर (उपेक्षा करने पर ऋतुएँ (उत्पन्न स्वामाधिक आत्मविद्रोह के कारण) देवदेवताओं के सहज आकर्षण असुरों की ओर लौट आई असुरत्व में समाविष्ट हो गई) ॥२॥

(अपने शत्रु की असुखि सुन सुन कर विपरीत को अन्तर्बेदना का स्व विक्रम अनुभव हुआ करता है । यदि किसी से वदना सेना हो, तो उस चाहिये वह उस के शत्रुत्व में मिल जाय । और उस से मिलकर उस के उस असुखिक अपना सहयोग देकर उस असुखि का और भी अधिक असुख बनाय, जिस से को सुनने मात्र से विपरीत की बेवना बुद्धिगत हो जाती है । ऋतुओं ने इसी प आश्रय लिया । असुरमरुज की ओर आगत) ऋतुओं ने (असुरों के लिए) असुखि को (और भी अधिक) असुख करना आरम्भ किया, जिस (असुरसम को देवता सुना करते हैं (सुन सुन कर व्यभिक्त हुआ करते हैं)) । (ऋतुओं के । असुरों की पूर्वससुखि में क्या विरोधता उत्पन्न होगई ?, धरन का समाधान व हुई भुक्ति कहती है कि)—जिम पुराण में इस असुरों के पूर्वज (ऋतुओं के । शून्य सहयोग न मिलने ॥) जिस समय (मोसम में) इस ओत ये, (इस ओत बीज बालत ये (इस प्रकार इस जीतकर बीज बाल कर बड़े परिणम स घोड़ा व अन्न उत्पन्न कर येनकेनरूपेण बड़े कष्ट से अपना मिर्बाई करते थे वही असुरों वंशज (अपने)—(इन ऋतुओं के अनुग्रह से आज जिसी मोसम में) कुछ पान काट रहे हैं कुछ कटे हुए पानों को शैत्र आदि से सुदबा रहे हैं । इस प्र

(अनुष्ठानों के अनुष्ठान से आज) उन-असुर प्रवेशों में बिना ही इत जित पुन पुन भोजनियों पक रही हैं। (तात्पर्य, अनुष्ठान-अनुष्ठान में पहिले बिना इन असुरों के पूर्वजों को जिस मीसम में इत जित कर बड़े कष्ट से अन्न उत्पन्न करना पड़ता था, आज उन कष्टराज असुर अनुष्ठानों के अनुष्ठान से उस मीसम में सो धान का संभार कर लते हैं। साथ ही इन्हें इत जितने का भी कष्ट नहीं पड़ता। अनुष्ठान-अनुष्ठान से बिना इत जित ही इन के देश में पर्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही वह प्रमत्त सद्युक्ति है, जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं) ॥१॥

(देवदेवताओं के सुमीप भी कर्णार्कर्णों से समाचार पहुँचे। वही हुआ, जो इना चाहिए थे।) असुरसद्युक्ति सुन कर देवदेवताओं को बड़ा परचात्ताप (भाग) हुआ। (इन्होंने अपने प्रजापराय-जनित इस परचात्ताप को इन शम्भों में प्रकट किया कि) —हमारे इस (अनुष्ठानों को उनके म्यायप्राप्त भाग न दन के) कारण (ही) आज शत्रुदल- (असुरलोग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से उपेक्षित अनुष्ठानों के दल से ही समुद्र दन कर आज व असुर यहाँ तक समर्थ होगए हैं कि, वे-सुखम सुखा हम से युद्ध करने के लिए सन्नत हैं। आज असुरों का यह साहस होगया है कि, व-प्रत्यक्ष में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में) ऐसा होजाना बहुत ही कमी है— (कनीय इन्तु-लज्जा की बात है)। (अनुष्ठानों के अनुष्ठान में आज असुर यलबान बन गए हैं। अतएव प्रत्यक्ष में इन से मुटमड़ करना तो और भी परचात्ताप का कारण होगा। अतएव अब तो) आप सब (मिलकर) बैसे कोड (अप्रत्यक्ष मध्य) उपाय निकालिए जिस से असुर लोग अपनी इस (वर्तमान समुद्र स्थिति में विपरीत (असमर्थ-निबल) अवस्था में (स्वतः एव) पहुँच जाय ॥१॥

(सभी यह जानते थे कि, अनुष्ठानों को इन का म्यायप्राप्त भाग न मिलने से व असुरों में का मिली परिणामस्वरूप असुर समुद्र हागा। अब उन्हें अपरपक्ष रूप से निर्बल बनाने का भी यही उपाय होमकता है कि, जैस वन तैस अनुष्ठानों को बापस लौटा ली जाय। परामर्शद्वारा यह निरूपण कर) बचदपता (अपना मन्तव्य प्रकट करत हुए) कहते लग कि, आपन (इस संकट से बचने के लिए व सुरदल में पक्ष जान वाली) अनुष्ठानों को ही नियन्त्रित करें (आदरपूर्वक अनुष्ठानों को ही बापस दुलाना चाहिए। उपाय निकल आया परन्तु) किम मापन में (किम प्रलाभन में यह सुलाया जाय ? यह समझा आपकी। समझा का कारण यही था कि, अनुष्ठान स्वताजा में निरन्तर हाकर हागा भी। उदें आपन प्रिय यज्ञ में माग

महीं मिला था। आज भी वे लौट सकती हैं। परन्तु प्रलाम्ब पेसा होना चाहिए, जो पूर्वप्रलोभन से भी विरिष्ट हो। वह यही होसकता है कि, जिस ब्रह्म भाग को उन्हें कामना थी, स्वाभाविक प्रलोभन था, उस का प्रथम भागद्वार अगुओं का ही बनाया जाय। अथर्ववेद इस विरिष्ट प्रलोभनाकर्षण से बचापस लौट आएगी। इसी तात्पर्यार्थ का दिग्दर्शन कराती हुई कृति कहती है कि—अपन इन अगुओं का इस ब्रह्म में सबप्रथम ही यजन करें (अर्थात् पहिला भाग द्यौ ही दिया जाय—आप को प्रथम भाग मिलेगा, यही संस्कार अगुओं के पास भेजा जाय। विरबाव है, इस साधन से अथर्व वे हमारी ओर आचार्येगी) ॥५॥

(देवमरहल में व अग्निदेव भी समुपस्थित थे, जिन्हें ब्रह्म में देवतालोक सब से पहिला भागद्वार मानते आरहे हैं। अगुभाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता थापा है। अब अग्नि में यह निर्णय सुना कि, अगुलक्ष्य प्रमाओं का ये लोग प्रथम यजन करने वाले हैं, तो उन्हें अपने-प्रथमाधिकार की किन्ता हुई। इसी किन्ता का व्यक्त करते हुए) अग्निदेव बोल पड़े कि—(हे देवदेवताओ!) आप ने जो कि पहिले (प्रकाजभाग से भी पहिले) मेरा यजन किया है, (पहिला भागद्वार बनाया है) वह मैं (ब्रह्म में) कदा प्रतिष्ठित रहूँगा (अग्नि को भय वह हुआ कि, मुझे इहोत्रिं ब्रह्म का प्रथमभाग पहिले से वे दिया है। आज य अगुओं को भी प्रथम दत्ता चाहते हैं। कदा ऐसा न हो कि, मेरा भाग छील कर अगुओं को वे दिया जाय। यदि कदा ऐसा होगा, तो मेरी प्रतिष्ठा ही अधिक्कन हो जावगी। देवताओं में अग्निदेव की इस किन्ता का हटाव हुए आश्वासन दिया कि) अग्निदेव! (आप किन्ता न करें) हम आप को अपने आश्रयन (प्रथमभाग लक्ष्य प्रतिष्ठास्थान) में कभी न गिरावेंगे। (देवताओं का वह आश्वासन अथर्व ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अगुय्य ही बना रहता है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई कृति कहती है कि) उन देवदेवताओं ने (प्रथमभाग प्रलोभन साधन में) अगुओं का गुलाम हुए (भी उन्हें प्रथम भाग दत्त हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने उनक आश्रयन से (प्रथमभाग में) अगुत नहीं किया अतएव (तब से, इसी अगुतभाब में) व अग्निदेव 'अगुत' नाम से ही प्रसिद्ध होग (जिन के लिए उभयप्रागुत आश्रय पुरावारा विहित है)। यह वास्तव भी अपने उस आश्रयन में कभी अगुत नहीं जाता है, जिस आश्रयन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जोकि इस अगुत अग्नि को (अग्नि के इस अगुत धर्म का) जानता है ॥६॥

(दशताम्रोंने अग्नि का—‘नत्वामायतनाच्छ्यावयाम’ इत्यादिरूप त्र वाचिक स्तोत्र तो करा दिया, परन्तु इस में समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई। ‘प्रथमयजन’ कर्म प्रकार ही सम्भव है। श्रुतियों का प्रथमयजन कर लिया जाय, अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय। अग्नियजन होनुका है। यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रविष्टि रक्खना है, तब तो श्रुतियों का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है। यदि श्रुतियों का प्रथमयजन किया जाता है, तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है, पक्षस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है। इस अक्लिष्टसमस्या के निराकरण के लिए देव दशताम्रों के ध्यान में एक उपाय आया। उन्होंने यह निश्चय किया कि, प्रथमयजन का प्रबोधन प्रथम भागपर अग्नि के द्वारा ही श्रुतियों के समीप पहुँचाना चाहिए। परिणाम यह होगा कि, श्रुतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजन रूप प्रिय भाग का जाने वाला समझ कर इन से अपरय ही यह कहेंगे कि, अब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागपर बनाने का त्याग कर रहे हैं, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि, हम अपने इस प्रथमयजन से आप को पूरक न करें, अपितु आपका भी अपने प्रथम यजन कर्म में ही समावेश करेंगे। इस प्रकार श्रुतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा, साथ ही श्रुतुपात्र में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा। इसी भाव का निष्पन्न करती इस भुक्ति कहती है—)

(उक्त मन्त्रिका के द्वारा उक्त निश्चय कर) दशदेवताओंने अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव !) जाह्न (और) आप ही उन (अमुरप्रविष्ट श्रुतियों का निमन्त्रित कीर्ति। (प्रमाणानुसार अपने स्वाभाविक आदानलक्षण होत्र-धम्म की अपेक्षा न) अग्निदेव (वहा पहुँच वहाँ) पहुँच कर (उन श्रुतियों से) अग्नि कहने लगें कि ‘ह अमुरदेवताया’ ईने देवताओंक यज्ञ के प्रति आपका भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आप को सूचना देने आया हूँ कि, वे अपने यज्ञ में आप को प्रथम भागपर बनाने के लिए मन्त्रित हैं)। (श्रुतुदेवताओं का पहिल अपमान हो चुका २। अतएव व तत्काल सन्तुष्ट नहीं हान काम व जब तक कि उनके सामने पहिल यज्ञभाग न बढ़ कर काउ प्रिय साधन देवताओं की ओर से इन का निश्चय नहीं हो जाय। उन्होंने याचा कि, यदि व कबल यज्ञभाग ही बना जायत है तब तो अपमान लागे नहीं। हाँ, यदि व प्रथम भागपर बनाया निर्दिष्ट कर चके हैं तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है, जगत मानरूपक हा

यहां शौटना भी अवेष्टकर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि, प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आए होंगे, इस की कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अन्न लौटेंगे नहीं। इसी आराद्धा के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि, हे अग्निदेव ! देवताओं के यह क प्रति) आपन कैसे (हमारा भाग) काम किया (अर्थात् देवताओं ने हमें पैसे के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है, अथवा वे हमें प्रथम-भागहर बनाने के लिए सन्तुष्ट हैं ?) ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने लगे कि, हे ऋतुदेवताओ ! देवदेवता अपने) यह मैं आप का सर्वप्रथम ही यत्न करेंगे (आप को प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है) ॥७॥

(अब अग्निदेव के द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विहित होगया कि, अपने को देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो पक्षकर्म में केवल उममत्राभ्युत प्रधानगुण अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव—यह जानते हुए भी कि, जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है, उसे देवसं-बद्धोपकार के लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी संकोच के सौंप देना चाहिये—उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूर्वत्याग के प्रति कृतज्ञता से व्याप्लावित होगया। प्रत्युपकार की भावना से इन्होंने भी यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना स्वयं छोड़ दिया, उसे कभी अन्न दूधक न करेंगे। फलतः अपने नियम, पूर्वभाग प्रथम भाग में युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो आयेंगे, प्रत्युपकार भी हो आयगा, साथ ही जिस देवताओं ने संकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए निषेध कर दिया, उन की अग्निदेव क प्रति की गई—'न स्वा मापतनाच्चावयाम' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो आयगी। यह निश्चय कर ऋतुओं ने आपन प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया। इसी स्थिति का, ऋतुओं के साथ अग्नि का गनिम सम्बन्ध है इस स्थिति का उपपादन करती हुई भुक्ति कहती है)—

(निमन्त्रण इन पाल, प्रथम भागहर, अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम-भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन ऋतुओं ने अन्वय से कहा कि, (हे अग्निदेव ! आप के इस उपकार के बदल) हम आपको हमारे में (हमारे प्रथमभाग में) भागहर बनाते हैं

तो कि आपने द्रव्यताओं का यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार आह्वय हुए) माग (प्रयत्नमाग) जाना (अपने प्रथम माग को हमारे लिए स्वीकार कर अपनी श्रद्धा का, त्याग का परिचय दिया)। (क्योंकि द्रव्यद्रव्यताओं के सम्बन्धस्वरूप में प्रथममाग देने वाले श्रद्धाद्रव्यताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे अतः तभी से) ये अग्निदेव (विद्ययाग्राणि) श्रद्धाओं में समाविष्ट है (श्रद्धाओं से अग्निप्राण का सम्बन्ध प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाज दत्ताक आहुति कर्म में प्रत्येक प्रयाजभाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है। अतएव प्रयाजद्रव्यताक वाग्या मन्त्रों में)—‘समिषोऽग्ने तनूनपावम्, इहोऽग्ने वहिरग्ने, स्वाहानिम् (इत्यादि रूप में अग्निदेव का समावेश हुआ है)। वह (ब्रह्मविद्यारूप फलभोका यज्ञमान प्रयाजकर्म्मोत्तिकर्तृत्वतापूर्वक आह्वयक) उस पुरुषकर्म में निरचयन भागश्च बन जाता है, जिस पुरुषकर्म में वह (पुरुषकर्म स्वयं के प्रति, प्रवर्तक के प्रति संवाञ्छक के प्रति) समान कहता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) उस पुरुषकर्मोन्निष्ठान करता है। (प्रयाजकर्म्मोन्निष्ठ अग्नि-समावेश से) अग्निप्राणमुक्त होने हुए उस (पुरुषकर्म) के लिए अग्निप्राणयुक्त (ही अतएव समुद्र ही) श्रद्धा उन सम्पूर्ण ओपधियों का परिपाक करती हैं, जो कि (उक्त विद्वान् परिचय के आधार पर) श्रद्धाओं में अग्नि को समाविष्ट जानता है ॥१॥

(पूर्वमकरण से यह निकर्ष निकलता है कि, प्रयाजद्रव्यताओं का यजन पहिल होता है। नम निकर्ष के सम्बन्ध में—एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जासकता है। पूर्व के होशप्रवरण ब्राह्मण में (१।१।२) परणार्येण मन्त्रों की व्याख्या करने हुए मुनि ने देवाह्वानकर्म का अग्नि विरलपण किया है। वहाँ आह्वान का आक्रम दत्तजाया गया है उस में प्रयाजद्रव्यताओं का अग्निम व्याप्त पड़ता है, जैसा कि निम्न लिखित घणन में स्पष्ट है—

“मावह द्वात् यज्ञमानापति, तदग्न्यं पश्चात् देवानारादवाऽमाह ।
अग्निमारऽआरहेति तदग्नेवाग्नेवाग्नेवाग्नेवाग्नेवाऽमाह । साममाय
हेति तन्मोन्वावापमानाय माभमाग्नेवाऽमाह । अग्निमारहेति, तयऽ
पयऽउपयथापुतऽमाय य पुराहाय मवति तस्माऽअग्निमाग्नेवाऽमाह ।

यहाँ लौटना भी भयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे भी देख चुके थे कि, प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें वन आए होंगे, इस की कोई सम्भावना है नहीं। और किता प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आराधना के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निम्नलिखित श्रुतदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि, हे अग्निदेव ! देवताओं के स्व के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओं ने हमें पक्ष के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है, अथवा वे हमें प्रथमभागहर बनाने के लिए सम्मत् हैं ?) श्रुतदेवताओं की इच्छानुसार देवसंक्रय का स्वीकरण करते हुए अग्निदेव कहने लगे कि, हे श्रुतदेवताओं ! देवदेवता अपने) वह मैं आप का सर्वप्रथम ही यजन करूँगे (आप को प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है) ॥५॥

(जब अग्निदेव के द्वारा श्रुतदेवताओं को यह विहित होगया कि, अपने को देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो ब्रह्मकर्म में केवल उभयप्राप्त्युत प्रधानमूत अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव—यह जानते हुए भी कि, जो प्रथम भाग मरा प्रातिस्विक घन है, उसे दहन-बहोपकार के लिए मुझे श्रुतदेवताओं को बिना किसी संकोच के सौंप देना चाहिए तो—उन श्रुतदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अप्रवृत्त्याग के प्रति क्रुद्धता से व्याप्लावित होगया। प्रत्युपकार की भावना से इन्होंने भी यह निश्चय कर लिया कि, जिनसे अपने लिए अपना स्वयं छोड़ दिया, उसे कभी अपन पूजक न करेंगे। परन्तु अपने नियम, पूर्वप्राप्त प्रथम भाग से मुक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा साथ ही जिन देवताओं ने संकटापन्न स्थिति जन्मते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया उन की अग्निदेव के प्रति की गई—'न स्वाभायतनाश्चाश्रयाम' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी। यह निश्चय कर श्रुतदेवताओं ने अपने प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया। इसी स्थिति का, श्रुतदेवताओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निम्नलिखित होने वाला प्रथम भागहर अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम-भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन श्रुतदेवताओं ने अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव ! आप के इस उपकार के बन्धन) हम आपको हमारे में (हमारे प्रथमभाग में) भागहर बनाते हैं,

तो कि आपने द्रवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोड़त हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग को हमारे लिए स्वीकार कर अपनी द्वाखा का, त्याग का परिचय दिया)। (क्योंकि द्रव्यवेदताओं के सम्बत्सरयज्ञ में प्रथमभाग होने वाले अतुवेदताओं की ओर में अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे, अतः वही से) वे अग्निदेव (विष्वक्प्राणानि) अतुओं में समाविष्ट है (अतुओं से अग्निप्राण का सम्बन्ध प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध का लक्षण में रखकर प्रवाज दत्ताक आहुति कर्म में प्रत्येक प्रवाजभाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है। अतएव प्रवाजदत्ताक याव्या मन्त्रों में)—‘समिधोऽन्नं तनूतपादन्ते, इडोऽन्नं, वरिन्ते, स्वाहाग्निम् (इत्यादि रूप में अग्निदेव का समावेश हुआ है)। यह (वज्रतिरायरूप फलमोक्ता यजमान प्रवाजकर्म्मोत्तिकृतव्यतापूरक आह्वय) उस पुण्यकर्म में निश्चयेन भागद्वर बन जाता है, जिस पुण्यकर्म में वह (पुण्यकर्म स्वयं के प्रति, प्रवर्तक के प्रति, संयोजक के प्रति) समान कहता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) वत पुण्यकर्मोत्तिष्ठान करता है। (प्रवाजकर्मोत्तिष्ठान अग्नि-समावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुण्यकर्म) के लिए अग्निप्राणयुक्त (ही अतएव समृद्ध ही) अतुपुं उन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करती हैं, जो कि (उक्त विमान परिचय के आधार पर) अतुओं में अग्नि का समाविष्ट जानता है ॥८॥



(पूर्वप्रकरण में यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रवाजवेदताओं का यजन पहिला होता है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में—एक पूर्वपक्ष उपरिचय किया जासकता है। पूर्व के होतृप्रकरण ब्राह्मण में (१।४।७) वरुणार्थक मन्त्रों की व्याख्या करत हुए धृति ने देवाह्वानकर्म का अधिक विरलपक्ष किया है। वहाँ आह्वान का आक्रमण यज्ञाया गया है, उस में प्रवाजवेदताओं का अग्निम स्वाहा पढ़ता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन में स्पष्ट है—

“आह इ देवान् यजमानायति, तदग्निं यज्ञाय दधानारादवाऽमाह ।

अग्निमाहऽआह देवि तदानवाज्यमागायाग्निमोहोदवाऽमाह । साममाय
देति तन्मोऽप्यावाज्यमागाय योममारादवाऽमाह । अग्निमाहति तज
पपऽउपपथाभुतऽमाय य पुराहावा मयति तस्माऽअग्निमारादवाऽमाह ।

अथ यवारेषतम् । देवी २॥ ऽब्रान्यपा १॥ आनहेति, तत् प्रयाजानुष-
आनसोढवाऽभाह । प्रयाजानुषाया वै देवाऽब्रान्यपाः—

रत्न० १।४।२।१६, १७, ।

(उक्त देवता-आवाहनप्रति सं स्पष्ट है कि, आम्बपा-प्रयाज देवताओं का आवाहन सत्र के अन्त में विहित है। और पद्धति में यह भी नियम विहित है कि, जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है, उसी क्रम से तद्देवता का यजन विहित है। सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही वेषयाग विहित है। देखते हैं, प्रकृत प्रयाज कर्म में इस समान पद्धति-नियम-का इस लिए उल्लेख हुआ है कि, प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सत्र के अन्त में, किन्तु यजन हुआ है सत्र से पहिले। प्रयाजयाग के सम्बन्ध में यह व्यक्तिगत कथें?, कथें नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता?, इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई, आगे जाकर उचित पूर्वपक्ष का सामाधान करती हुई भुवि कहती है) —

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम में विपरीत होने वाले प्रथम यजन कर्म के सम्बन्ध में (वैज्ञानिक) कहते हैं—(यह पूर्वपक्ष उठाते हैं, विमतिपति उपस्थित करते हैं—'तदाहु' कि) जब कि प्रयाजों को—(इविर्भिन्नागानुसार विहित नियम के आधार पर) उत्तम रूप में (अन्त में देवदेवता) आहूत करते हैं, (आवाहन जब कि इन का सर्वाश्रय में जाता है) तो ऐसी स्थिति में (आवाहन क्रम से विपरीत) किम कारण (क्यों) इन का प्रथम रूप से (देवदेवता) यजन करते हैं (यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ?) । (उत्तर स्पष्ट है—अपने प्राकृतिक सम्बन्ध) यज्ञ में (प्राणविष) देवदेवताओं ने इन (प्रयाजों) को उत्तमरूप से ही (अन्तिमरूप में ही यद्यपि) स्थापित किया (था), (तथापि उसी समय उन) देव देवताओं ने (अग्निदेवद्वारा इन के लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे । (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उल्लंघन करत हुए देवदेवताओं ने आवाहन किया इन का यद्यपि अन्त में ही, परन्तु यजन किया सत्रप्रथम । प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज-कर्मपता अन्तिम है, यजन प्रथम है । उसी प्राकृतिक यज्ञविधा पर अनुगत देव मानुष यज्ञ का चिन्तन हुआ है । अतः यज्ञ भी इसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है) अतएव (प्राकृतिक नियमानुरीतेनैव) अग्निदेव लोग (अपने

एव इष्टिर्म्म में भी इन प्रयाजों का उत्तमरूप से तो आवाहन करते हैं, एवं प्रयस-
रूप से यजन करते हैं ॥४॥



(प्रवाचनार्थ के सम्बन्ध में एक विषय और विमिश्रण रह जाता है।

ममिन्, तनूनपात्, इष्ट, बर्हि, स्वाहा, ये पांच व्याहृतिर्था-नाम-कर्मण बसन्त,
मीम, बर्पा, शरन्, हेमन्त इन पांच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती हैं। सवत्सरयज्ञ की
पूर्वस्था बसन्तादि पांचों ऋतुओं का सम्बन्धस्तरान्नि से सम्बन्ध है, जैसा कि ब्राह्म-
चारम् की ८ कश्चिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान
करा अबिप्रतिपन्न बन जाता है कि, ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है।
परन्तु—स्वाहाकण्ड पञ्चम प्रवाचनार्थ के सम्बन्ध में एक महीन विमिश्रण उप-
स्थित होती है। आरम्भ के बार प्रयाजों में जहाँ ऋतुसङ्गण प्रयाजों के साथ 'स-
मिच्छो अन्न आरयस्य व्यम्तु'—'तनूनपादन्न आरयस्य वतु'—'इहो अन्न आरयस्य
व्यम्तु'—'बर्हिर्म्म आरयस्य वतु'—इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध विहित है,
वैम पांचवें ह्रस्वऋतुसङ्गण स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित
नहीं है। आपतु पृथग्वाचनपुष्टी की भाँति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त—इस प्रवाच-
नार्थ में—आरम्भभाग, प्रधान, स्विष्टकृत्, इन तीन अग्निवागों का सम्बन्ध और
किया जाता है। दूसरे शब्दों में आरम्भभाग ग्राहक अग्नि, प्रधानभाग ग्राहक अग्नि,
स्विष्टकृत्भाग ग्राहक अग्नि, इन तीन अग्निवाग का आदि-मध्य-अवसान में यजन
और किया जाता है। याव-सामान्य सम्बन्धस्तरान्निवत् इस विरोधान्निप्रयी का
भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है, तब तो ऋतुसङ्गण पाँचों ही प्रयाजों में—प्रत्येक में—
इन तीनों विरोधान्निवागों का अनुष्ठान होना चाहिए। यदि ऋतुओं के साथ
सम्बन्ध नहीं है, तो किसी भी प्रवाचनार्थ में इन का यजन नहीं होना चाहिए।
स्थिति यह है कि, आरम्भ के बार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन
किया जाता है। किन्तु पञ्चम प्रवाचन में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विरो-
धान्निप्रयी का यजन और किया जाता है, जबकि ऋतुसामान्ययजन पञ्चम प्रवाच-
न में इन का यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहाकण्ड हेमन्त प्रवाचनार्थ में
सम्बन्ध स्तरान्निवत् सामान्य अग्नि, वानों के यजन के अति-
रिक्त तीन विरोधान्निप्रयी के यजन का भी समावेश हुआ है। यन्त्रमात्र निम्न
लिखित है—

“स्वाहाग्नि, स्वाहा सोम स्वाहाग्नि, स्वाहा देवों आम्बपान्
स्वाहाग्नि होत्रो जुषाणः, अग्न आम्बस्य व्यन्तु वीपद्”

—रस० १।१।४१२, १३।

रस बाह्यामन्त्र के पांच विभाग स्फुट हैं। (१) ‘स्वाहाग्नि, स्वाहा सोम’—यह एक विभाग है। इस से आग्नेय आम्बभाग, तथा सौम्य आम्बभाग, इन दो आम्बभागों का सम्बन्ध है। सोमगर्मित अग्नि ही आम्बभाग देवता है। इस का प्रथम यजन होता है। (२) ‘स्वाहाग्निम्’—यह द्वितीय विभाग है। सम्यग्वाच्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है, यही वृत्त प्रधानयाग है। (३) ‘स्वाहा देवों आम्बपान्’ यह तीसरा विभाग है। आम्बप स्वाहालक्षण प्रयाज (इमन्त) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है। (४) ‘स्वाहाग्नि होत्रो जुषाणः’ यह चौथा विभाग है। त्रिष्टुक्अग्नि का ही इस से यजन होता है। (५) ‘अग्न आम्बस्य व्यन्तु वीपद्’ यह पांचवां विभाग है। पू ऋतु सामान्य सम्बत्सरानि का ही इस से यजन होता है। आम्बभागयागानुगत विशेष अग्नि आदि में विहित है, प्रधानभागयागानुगत विशेष अग्नि (सम्यग्वाच्युत अग्नि) मध्य में विहित है त्रिष्टुक्वागानुगत विशेष अग्नि अन्त में विहित है इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजभाग के आदि-मध्य-अवसान में क्रमशः आम्ब भागयाग, प्रधानयाग, त्रिष्टुक्वाग ये तीन विशेषाग्नियाग पूँ के चार प्रयाजापेक्ष विशेषरूपय विहित हैं। इन की उसी पूर्वोक्त वैज्ञानिक आख्यान द्वारा उपपत्ति मिलती हुई मुक्ति कहनी है)—

(अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म में होने वाले पञ्चप्रयाजयोग के) चौथे (रस ऋतुरूप वर्द्धिर्नामक) प्रयाज में देवदेवताओं में निरग्रज से यज्ञ (यज्ञातिशयरूप महसम्पत्) प्राप्त कर लिया—(०४ वीये प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) की पाँचों (इमन्त ऋतुरूप स्वाहात्मक) प्रयाज से प्रसिद्धिपूर्वक—कर लिया। (इस प्रयाज कर्म के) अन्तर जाने वाला आम्बभागविरूप या यज्ञ का शेष (इतिकर्तव्यता, यज्ञ यज्ञ उस (के अनुष्ठान) में देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त होगय ॥१०॥

प्रयाजकर्मविरहित आम्बभागविरूप यज्ञागुष्ठान के बल से स्वर्ग लोक (की ओर) जात हुए देवदेवतालोक (अन्तरिक्ष में अमृत-इमयत् परिच्छिन्न रूप से विचरन वाले आप्यप्राणात्मक यज्ञविशेषी) असुर पक्षियों, निराध (मंकल्प) से डर गय (उन्हें भय हुआ कि, ये कुछ नहीं हमारे स्वर्गगमन)

बाधा न करे। इस भय से प्राण पाने के लिए) उन देवदेवताओं ने असुर राक्षसों को मारने वाले, एवं मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक-आयुष्यागातिराय के) पूष में (पहिले) प्रतिष्ठित किया, उसी को मध्य में, उसी को अन्त में प्रतिष्ठित किया (अर्थात् आन्तरिक्य असुरराक्षस स अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिराय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए उन्होंने यज्ञातिराय के आदि-मध्य-अवसान, तीनों स्थानों में आयुष्यागोच्छेदक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया) ॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रिस्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गप्राप्त निर्विघ्नपूरा होगया। क्यों कि) यदि इन देवदेवताओं का इन असुर राक्षसों ने पूष की ओर से निरोध करना चाहा, बिन्न डारना चाहा, तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। (इस प्रकार तीन स्थानों में रहकर हम से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं ने निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥१२॥

(प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से पुष्पलोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिराय पर आन्तरिक्य असुरों का आक्रमण होता रहता है। परन्तु त्रिस्थान स्थित आग्नेयप्राण के सम्बन्ध से इन का यह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है इसी प्राकृतिक यज्ञविद्या के आधार पर भौमदेवताओंने अपने वैधयज्ञ के पञ्चम-पात्रकर्म में-पाँचवें प्रयाज में-इसी प्राकृतिक अग्निबली सत्यत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशोषामिकर्मों का समावेश किया था, वहूद्वारा अपने देवात्मरूप में निरापद स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। इसी भौमदेवानुगता यज्ञविद्या के आधारपर इस यज्ञमान का यह चौथे इष्टिकर्म विहित हुआ है। इसे भी अपने देवात्मकारण द्वारा स्वर्ग में जाना है। तात समय आन्तरिक्य असुरराक्षसों का आक्रमण यहाँ अनिवार्य है, वहाँ इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है। इसी आक्रमण-निरा-के लिए, निरापद स्वर्गप्राप्ति के लिए भौमदेवानुगता यज्ञमान अपने इस वक्ष में भी पाँचवें प्रयाज कर्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशोषामित्रयी का यज्ञन करना है। इस यज्ञन से रहकर-अग्निबली का अनुप्राप्त प्राप्त होजाता है। यज्ञान्तर्य यह भी देवदेव निरापदरूप से स्वर्गफलमोक्ष प्राप्त जाता है। पाँचवें प्रयाज के अर्थात्-

मध्य-अवसान-में अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है ? , विप्रतिपत्ति का यही समाधान है, जिस का मुनि के अक्षरों में यों विरक्षेयण हुआ है)—

(जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग हो रहा है, तदनु जिसप्रकार मौम मनुष्य देवताओं में अपने वतुर्थ प्रयाज समाप्यन्तः पर्वण्ये प्रयज के आदि-मध्य-अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था, तद्वारा निरापन्न रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था,) ठीक इसी प्रकार (तथोऽप्य) यह यज्ञमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से (तो स्वर्गसाधक) यज्ञ प्राप्त करता है, उसे पर्वण्ये प्रयाज स प्रतिष्ठित करता है, इस के अनन्तर जो आत्म्यमागादिरूप यज्ञ का रोच बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि (पञ्चम प्रयाज के आदि में—'स्वाहान्निम्'—रूप से यज्ञमान प्रति-
त्तिधिरूप) अन्वयु आग्नेय-आत्म्यभाग का यजन करता है, (इस से अपने स्वर्ग-
प्राप्त हुए यज्ञातिराय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाला, मार मगाने
वाले अग्नि को ही (नियुक्त) करता है । (आग्नेय-आत्म्यभाग के) अनन्तर (इसी
पञ्चम प्रयाज कर्म के मध्य में) जो (उभयप्राच्युत प्रयाज अग्नि के लिए) जो
आग्नेय पुरोहारा (का भागहर) बन जाता है (उस का 'स्वाहान्निम्' रूप से यजन
करता है) । इस कर्म से (इस यज्ञातिराय के) मध्यभाग की ओर से ही अग्नि
को नियुक्त करता है । (उभयम अग्नि यजन के) अनन्तर जो कि अन्वयु (प्रया-
जान्त में—'स्वाहान्निम्' होता जुबाय' इत्यादि रूप से) सिष्टकृत्-अग्नि का यजन
(स्वष्टकृत्वाग) करता है, इस कर्म से (इस यज्ञातिराय के) पश्चिमभाग की ओर
से ही अग्नि को नियुक्त करता है, (जो कि) अग्नि 'रक्षाहण'—(राक्षसों को नि-
र्वीच बनाते वाला, मारने वाला) एवं 'रक्षमासपहन्ता' (राक्षसों को मार मगाने
वाला, यज्ञमयदक्षसीमा से बहिष्कृत करने वाला) है ॥१४॥

(प्रयाजकर्म से स्वर्गलोक की ओर जात हुए) इस यज्ञमान के (स्वर्गसा-
धक) यज्ञातिराय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षस आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ
रक्षोहा रक्षसामपहन्ता अग्नि तत्रस्थ जन असुर राक्षसों को मार मगाते हैं । यदि
मध्य भाग से आक्रमण करते हैं, तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार मगाते हैं । यदि
पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ अग्नि तत्रस्थों को मार मगाते हैं ।
इस प्रकार वह (यज्ञातिरायरूप-स्वर्गसाधक) देवता तीनो अग्निवों से बहुत ओर

मे सुरसिद्ध-मिराप्रद धनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ।—(प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है), ॥१२॥

इति—प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

—६—

७-अभिचार (कृत्याख्या)

(प्रवास कर्मों के द्वारा यज्ञाविराजित उत्पन्न भी आज ही हो जायगा, वह सप्त-
सप्त स्वर्गस्वान में भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा । परन्तु यज्ञकर्त्ता यज्ञमान का
य मानुषात्मा-भूतात्मा, जो स्वर्गगत यज्ञाविराजित रूप वैवात्माकर्षण से आकर्षित
है—अपने ऐश्वरीयिक प्रारब्धकर्मकालान्तर (जिस प्राग्भव कर्म से इस वर्त-
मान शरीर मिला है) ही (सृष्टि के अनन्तर ही) वैवात्माकर्षणद्वारा स्वर्गलोक का
संस्पर्श करेगा, स्वर्ग पहुँचेगा । इसी लिए तो स्वर्गलोक आधुनिक- (पारलौकिक)
माना गया है, अतएव यो यह 'अष्टपञ्च' (परोक्षपञ्च) कहा गया है । त्रिषाष्टका
सक प्रयाजब्राह्मण स पश्चिम प्रतिपादित 'श्रुगृह्य' के आभाषण-अस्याभाषण
कर्म-विधान में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, मानवीय मन परोक्षपञ्चापेक्षया
पश्चिम प्रत्यक्ष पञ्चों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है—(वेदिक-पृ० सं० १०४,
पृ० विधान प्रकरण) । अतएव ही प्रकृत अग्नित्रय-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गकर्म
निरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी पञ्च होना चाहिए । इस प्रत्यक्ष पञ्च को वात्काक्षिक, काला-
न्तरमावी भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकना है । भोजन किया, और गृहि-
हार्ग, यह पारलौकिक वात्काक्षिक पञ्च माना जायगा । भोजन किया, कुछ इन्ध-
कर्मों रस असृक्-मंस-मर्-अस्थि-अग्ना-गुह-ओज-अनोरूपमें परिणत हुआ ।
यही पारलौकिक कालान्तरमावी पञ्च माना जायगा । ब्राह्मण की प्रकृत १६, १७
१८ इन तीन परिहकार्यों में से वात्काक्षिक पञ्च का विरक्षेण हुआ है, जिस
कृत्यासम्बन्ध स अभिभारात्मक पञ्च मानने हुए सार्विक कालान्तरमावी पञ्च से
इसमें वृत्त कर दिया है, यही 'अभिचार' नामक पञ्च प्रकरण है । एवं १६ की क-
टिप्पणी में कालान्तरमावी, अतएव विरक्षेण पारलौकिक पञ्च का विरक्षेण
हुआ है । अतएव तत्कालिकात्मक प्रकरण 'पञ्चभूति' नामक ८ वें प्रकरण मान
लिया है । इस दोनों पारलौकिक पञ्चों में से मूखीकटाहत्याज्य पश्चिम अभिचार

तत्त्व-तान्त्रिक-मध्यम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई नुं
कहती है) —

(जिस समय आत्ममागनुगत प्रथम अग्नि का वजन हो रहा हो, और ज
समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निम्बाचम प्रकट करे, अथवा
तो कुछ निम्ब वचन बोले परे, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु व
द्वारा पहिले से कहे गए निम्बाचमों का प्रतिरोध सेना हो, तो उसे बाहिर नि
कल उस शत्रु को मरवा बनाकर उसके नामग्रहण पूर्वक — 'मुक्ष्यामार्तिमारिष्यसि, —
अन्वो वा बभिरौ वा भविष्यसि' — हे शत्रु तू मुझ पीड़ा प्राप्त करेगा, या तो अन्वा
हो जायगा, या बहिरा हो जायगा, यह वचन बोलवे । इसी प्रकार दूसरे, तीसरे
अग्निवजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अतिष्ठ कर सकता है ।
इसी तीनों अभिचारों का अपने शत्रुओं में विगृहण कराती हुई नुं भुति कहती है)

(इस प्रजावक्त्र में) यदि इस (यजमान) के प्रति वह (यजमानशत्रु
अथवा और कोई-ईर्ष्यातु-निम्बक) यज्ञारम्भ में (आत्ममागानुगत प्रथमान्नि-
वाग काल में) निम्बाचम का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निम्बक) के
प्रति (वह) बोले कि, तू मुझ पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्वा हो जायगा, अथवा तो
बहिरा बन जायगा । वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुझ पीड़ा
हैं । (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अथर्व हो जायगा (निम्बक वा
तो अन्वा हो जायगा, अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारारम्भक तान्-
त्रिक फल है) ॥१६॥

यदि इस के प्रति वह पञ्चमध्य में (उभयवक्त्रयुत द्वितीयान्निवागकाल में)
अनुचित कहे, तो (यजमान) उस के प्रति (वह) बोले कि, तू मज्जारून्ध, पशु-
रून्ध हो जायगा । प्रजापे, और पशु मिश्रणरूप से मज्ज (रूप) हैं । (यजमान के
उक्त कथन से) वैसा ही मिश्रण हो जायगा (निम्बक की प्रजा पशुसम्पत्ति नष्ट
हो जायगी । यही द्वितीय अभिचारारम्भक तान्त्रिक फल है) ॥१७॥

यदि इस के प्रति वह यज्ञान्त में (त्रिप्रकृत अग्निरूप तृतीयान्निवाग काल
में) अनुचित कहे, तो (यजमान) उस के प्रति (वह) बोले कि, तू प्रतिष्ठा रक्षित,
एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा) ।
(यजमान ने ऐसा कहने से) वह (निम्बक) वैसा ही अथर्व हो जायगा (अथ-
वरापूर्वक बरिही बनता हुआ शीघ्र मर जायगा) यही तृतीय अभिचारारम्भक तान्

अधिक फल माना जायगा। इस प्रकार आभ्यसागम, प्रधानागम, त्विष्टकृपागम, गानों में सम्मिलित रखन वाला प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्निषों के यज्ञन में शत्रुषि मरुताष्ट-प्रत्यक्ष-सात्कालिक-प्रेक्षणीक फल भी प्राप्त किया जा सकता है। भूमि में सात्कालिक फल तो बसला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यज्ञर इन्ध को न जानकर पत्नी भूले करन वाला यज्ञ जन भी यों अपना नारा करालें। उन के कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए उन को सावधान करती हुई भूमि कहती है कि इन यज्ञरइन्धानमियों को यह जान लेना चाहिए कि, यह कोई सामान्य ली किंक कर्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणानि का अपनी प्रतिष्ठा पनाता है, जिन के प्रति माय ही इस यज्ञानियुक्त यज्ञमान के प्रति जान-अनजान में मोड़ी भी ग्लेहा, निन्दा, उपहास करने में सर्वनाश निश्चित है।) अनन्तर उन निन्दकों का चाहिए कि, वे भूलकर भी (हाम परिक्राम में भी यज्ञ, तथा यज्ञानुष्ठानकर्ता) यज्ञमान के प्रति अनुम्याहारी (अनुचित जालन वाल) न बनें—ना मुम्याहारीव स्यात्।

(अभिचार कर्म-को उक्त कर्म नहीं है। लोकमप्रदाहक, दुर्षकल्याणकारक, अतएव भेद्यन्त यज्ञ जैन मार्त्तिक कर्म में अपन व्यष्टिगत द्वेष के वृत्त की मापना रखना भी यज्ञव्यवस्था में समागुण का आधान करना है। अतएव इत्थम पक्ष तो यही है कि, यज्ञकता भी मम अभिचार का अनुगमन न कर। रही बात-इष्ट फल की। इस सम्बन्ध में यही उक्त पश्चात् हागा कि, यज्ञकता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रकृत की माया प्रणिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरक्त जान वाला अपन ही हाथ में बल्लभ हो जाता है, तबसे यज्ञमान में शत्रुता रखन वाल भी स्वयं जब प्रकृतिप्राप्त ही बल्लभ हो जाता है। समयानिष्ठम अवश्य हो सकता है। परन्तु एतद अवश्य मिल जाता है। इष्टकर्मवस्था की अनिवार्यता तात्पार्थक्य है कि जो यज्ञमान मिला है अपितु कथल रूप मन्त्र को जानता भर है यदि उस कथल व्यष्टि के प्रति भी यज्ञ शत्रुता मन्त्रा हो तो वह भी जष्ट हो जाता है। यज्ञान्तर भी मम फल की प्राप्त कर लेता है। फिर यज्ञमान को तो का आगच्छा रहना ही नहीं चाहिए। कथल उस यह माय प्रकृति पर ही बल्लभ होना चाहिए। यज्ञ निन्दकों के 'तस्माद् ए जानुम्याहारीव स्यात्' इस सामयिक आश-यत्नासी-र माय माय यज्ञकताओं के प्रति भी उद्दे मार्त्तिक मायाकर्म जन रहन के लिए क विचारकमप्रकृति में बल्लभ रहन के लिए मन्त्र कर्मी हुई भूमि कहती है कि) — (यज्ञकता ही क्या) इस रहस्य का जाननशाला भी पर (अष्ट शत्रुगमयकता)

त्मक-सात्त्वतिक-प्रथम ऐहिकीक फल का स्वीकरण करती हुई
कहती है) —

(जिस समय आत्मभागानुगत प्रथम अग्नि का बजन हो रहा हो, और
समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे, या
तो कुछ निन्दा बचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु
द्वारा पहिले से कहे गए निन्दाबचनों का प्रतिरोध सेना हो, तो उसे बाहिर
बह उस शत्रु को लक्ष्य बनाकर उसके नामग्रहण पूर्वक—‘मुख्यामार्तिमारिष्यमि
अन्धो वा बहिरो वा यविष्यति’—इं शत्रु व मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, वा ता क
हो जायगा, या बहिर हो जायगा, यह बचन बोलने । इसी प्रकार दूसरे, ती
अभिव्यजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता ।
इहो तीनों अभिचारों का अपने रम्यों में दिग्दर्शन कराती हुई भुति कहती है)

(इस प्रयासकर्म में) यदि इस (यजमान) के प्रति वह (यजमान
अथवा और कोई-ईर्ष्यातु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आत्मभागानुगत प्रथमाग्नि
याग काल में) निन्दाबचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्दक)
प्रति (यह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा
बहिर बन जायगा । बाल्य में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़ा
हैं । (यजमान के एक कथन मात्र से) बैसे ही अचरब हो जायगा (निन्दक व
तो अन्धा हो जायगा, अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारात्मक तात्त्विक
फल है) ॥१६॥

यदि इस के प्रति वह यजमान में (उभयत्राच्युत द्वितीयाम्निवागकाल में)
अनुचित करे, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजारूप्य, पशु
रूप्य हो जायगा । प्रजापति, और पशु निरूप्यत्व से मध्य (रूप) हैं । (यजमान व
एक कथन से) बैसे ही निरूप्य हो जायगा (निन्दक की प्रजा पशुमर्पण म
हो जायगी । यही द्वितीय अभिचारात्मक सात्त्वतिक फल है) ॥१७॥

यदि इस के प्रति वह यजमान में (त्रिचक्रेण अग्निरूप तृतीयाम्निवागकाल
में) अनुचित करे, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बाल कि, तू प्रतिष्ठा रहित
त्वं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) वाक को प्राप्त होगा (मर जायगा) ।
(यजमान म वेगा करने से) वह (निन्दक) बैसे ही अचरब हो जायगा (यम-
वर्तपूर्वक दृष्टि बनता हुआ शीघ्र मर जायगा यही तृतीय अभिचारात्मक सात्त्विक

कासिक पक्ष माना जायगा। इस प्रकार आभ्युपगमयोग, प्रधानयोग, म्विष्टरूपाग, गर्भों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अभिनयों के यजन से शत्रुवि-
मारम्भ इष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-गोक्षीकिक फल भी प्राप्त किया जासकता है।
भूमि ने तात्कालिक फल ही चतुष्ठा विधा। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यद्यपि
इस क्षेत्र में जानकर पत्नी मूर्ख करने वाले अज्ञान भी यों अपना नारा करालें।
उन के अन्त्याण का लक्ष्य में रखते हुए उन को सावधान करती हुई सृष्टि कहती है
कि उन यद्यपि अन्त्याणमिश्रों को यह ज्ञान देना चाहिये कि, यह कोई सामान्य लौ-
किक कर्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणान्ति को अपनी प्रतिष्ठा
पनाता है, जिस के प्रति साथ ही इस यजमानियुक्त यजमान के प्रति ज्ञान-अज्ञान
में बाढ़ी भी उपेक्षा, निन्दा, उपहास करने में सर्वनाश निश्चित है।) अतएव उन
निम्नको ही चाहिए कि, वे भूलकर भी (हाम परिव्राज में भी यज्ञ, तथा यजमान-
प्राणकर्ता) यजमान के प्रति अनुभ्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें—‘ना
नुभ्याहारीव स्वात्’।

(अभिचार कर्म—कोई उत्तम कर्म नहीं है। लोकमप्रदाइक, सर्वकल्याण
कारक, अतएव भेदजन्य यह जैसे मार्त्तिक कर्म में अपने व्यष्टिगत द्वेष के यज्ञ
की भावना रखना भी यजमान्य में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम
पक्ष तो यहो है कि यज्ञकता भी उस अभिचार का अनुगमन न करे। यही वाद-उप-
पन्न की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पथ्याय होगा कि, यज्ञकता सामान्य मनुष्य
मनुष्य नहीं है, अपितु प्रकृति की मायात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विच्छिन्न
ज्ञान वाला अपने ही शरीर में स्विष्टल हो जाता है, तथैव यजमान में शत्रुता रखने
वाले भी स्वतः पथ प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं। समयानिश्चय अवश्य हो
सकता है। परन्तु दण्ड अवश्य मिल जाता है। दण्डव्यवस्था की अनिवार्यता वा-
रमा है कि जो यजमान नहीं है, अपितु कथल रूप ग्रन्थ का आगता भर है यदि
उस कथल व्यक्ति के प्रति भी छाड़ शत्रुता रखता है तो वह भी दण्डित हो जाता है।
गर्भविन् भी उस पक्ष का प्राप्त कर सकता है। फिर यजमान का तो का आराधना
गर्भी हो सक्ष आदि। फलतः उस यह मार्ग प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिये। यज्ञ
निम्नको के ‘नरमादु ह नामुभ्याहारीव म्यात्’ इस सामर्थिक आशय-पनाशनी-उ-
भाव भाव यज्ञकताओं के प्रति भी यज्ञे मार्त्तिक मायात् बन रहने के लिए के
अभिचारकर्मभूमि में चयन रहने के लिए संज्ञित करती हुई बलि कहती है कि—
(यज्ञकता ही नरा) इस शत्रुता का आगनाशना भी पर (उत्तम शत्रुपराभवकता)

किवेवम् है ? (इन का कीनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्यों, जब कि अनुवेवता पहिले से ही स्पष्ट किए का चुके हैं, यह—प्रासंगिक प्रतिप्रश्न प्रश्न प्रश्न-और उपस्थित होता है। इस प्रतिप्रश्न का उत्तर वही होता है, जो प्रश्न का अन्वेष है। यह ठीक है कि, आग्याहुति होती है अनुवेवताओं के लिए ही अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आग्य के देवता अनुवेवता परन्तु यह समझना, केवल समझना ही है। आग्यमाह्वयप्रकृति में किसी भी देवता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। नामोल्लेख सम्प्रदाय भी कैसे हो, जहाँ प्रजापत्यकर्म का उद्देश्य अनुद्धार सम्बत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाले सम्बत्सरारोहक स्वर्गसम्पत्ति है। यदि अनुद्धार का नाम लिखा जाता है, समष्ट्यात्मक सम्बत्सर का ग्रहण नहीं होता। यदि सम्बत्सर का नाम दिया जाता है, तो अनुद्धारों का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता। अपरिचित यह कि—आग्यद्वारा अनुद्धारों का भी यजन हो जाय साथ ही इसी कर्म से अनुद्धारों का सम्बत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय। इस का उपाय है—आग्य—का ग्रहण ही उपायारूप से, बिना किसी देवता का नाम लिखे एवं आग्याहुति हो अनुद्धारपूर्वक उपायारूप से आग्यद्वारा प्राजापत्य सम्पत्ति इसलिये मिल जायगी कि सम्बत्सर मयङ्गक्रेत्र में प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुद्ध है। अनिरुद्धभाव ही उपायुभाव है इस उपायुभावद्वारा तत्कालमुक्त अनिरुद्ध प्राजापत्यसम्पत्ति प्राप्त हो जाती। यजनकर्मादुक्त आग्यामन्त्रों में—‘समिद्धो अग्न आग्न्यम्यन्तु’ इत्यादि रूपः अनुद्धारोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यमत्त अनुद्धारों का यजन मफल हो जाता है। इसलिये आग्यमाह्वय उपायु रूप से है, एवं आग्याहुति नामक पूर्विका हो निहित हुई है। बिना नाम ग्रहण के उपचाप अनुद्धारमत्त में आग्यमाह्वय करना ही इस प्रश्न का भी समसक देन रहा है कि आग्य का देवता कौन है किस देवता के उद्देश्य से आग्यम यह हुआ है ?—साथ ही वही नामग्रहणमावात्म तत्कालभाव अनिरुद्धभाव—इस प्रश्न का उत्तर भी वही रहा है कि, वह आग्य प्राजापतिदेवताक है। इसी स्थिति का संकेतबिधा से व्यष्टीकरण करती हुई प्रति कह रही है—(ये आग्य) प्राजापत्य हैं यही कहना चाहिए। अर्थात् आग्य कि देवता है ? प्रश्न का प्राजापत्य है यही उत्तर हो सकता है)। क्योंकि प्राजापति निरुद्धक अनिरुद्ध है। उधर आग्य भी (तत्कालान्वित आग्यमय देवता गृहानि रूप में अनिरुद्ध ही हैं—‘अनिरुद्धो हि प्राजापति’ अनिरुद्धमावाधानि ।

● — अथ आग्याहुति याम्ये—अनुद्धारदेवताभिः, तत्कालान्वित याम्ये तत्कालान्वित आग्याहुति याम्ये (अथ १ प्र १ प्र १ ७ अर्धव्या) ।

(आम्य प्राज्ञापत्य हैं एतावता ही ये-इसकी आहुति-यजमान के स्वर्ग-
गति के सापेक्ष कैसे बन गए ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसी का समाधान
कही हुई भुक्ति कहती है) — (अपने अभिरुक्तमात्र से प्राज्ञापत्य बने हुए) ये ये
यस्य यजमानदेवस्य ही हैं। (अर्थात् यज्ञकर्ता यजमान भी 'प्राज्ञापति' सम्बन्ध से
उन आम्यों का देवता बन जाता है। क्योंकि, जैसे मन्त्रस्तरयज्ञमयज्ञ का अभिष्ठा
दा नम्यमात्र (हृद्यतन्त्र-सम्बत्तरयज्ञमयज्ञापेक्षता प्राज्ञापति है। एवमेव) यह यज
मान भी निश्चयेन अपने इस यज्ञ में (स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्तक बनने से)
प्राज्ञापति है। (इस प्रकार सम्बत्तर प्राज्ञापति की हृद्यकामना से अग्नि-बाष्पा-
दिवादि अतिवृत्ति प्राकृतिक नित्य यज्ञ का विधान करते हैं, एवमेव इस यज्ञ में भी
इस यजमान से उक्त (मेरित) होकर ही होता-अभ्ययुं आदि अतिवृत्ति- (प्रह-श-
भ-कोत्रादि स्वकर्मों के द्वारा) यज्ञ विवृत करते हैं, (इस विधान से यजमान के)
हृद्य (दैवात्मा) को उपलब्ध करते हैं। (इसप्रकार जिन मेरेखाओं धर्मों ने वह
अपने यज्ञ में प्राज्ञापति बन रहा है, सब मेरेखा-धर्मों का प्रवर्तक बनता हुआ
यजमान भी अपने यज्ञ में अभ्यय ही प्राज्ञापति माना जा सकता है। एवं इतोऽग्निर
प्राज्ञापत्य आम्यों को यजमानदेवस्य माना जा सकता है) ॥ २० ॥

(प्राज्ञापत्य आम्य क्यों यजमान के स्वर्गगमन का कारण बन जाता है ?
प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वपरिहका से समाधान हो जाता है। तथापि, जैसा
आदिष्ट, जैसा शरीरकरण अभी नहीं हुआ। इसी यत् किञ्चित्-अस्वारस्य का स्पष्टी-
करण करती हुई पदसंश्लेष-प्रवर्तन पूर्वक समाधान करती हुई भुक्ति कहती है) —
वह अभ्ययु आम्य का उपस्तरय कर (पुरोहारात्वापनप्रवरा को आम्य से पक्षि
आम्य से युक्त कर, अनन्तर निवृत) इति के दो अवधान कर (आप्तुत आम्य
पर हविरवदान रस्य, अनन्तर पुनः ऊपर से उस विवृत) इति पर आम्याभिपार
करता है (ऊपर से युक्त द्वारा है)। (इस प्रकार इवयत् आम्यमम्बन्ध से
युक्ता) यह आहुति आम्य से (सर्वात्मना-सीध ऊपर जानों ओर म) अंगिकृत
होकर (मिलकर ही) अभ्ययु के द्वारा (आहवनीयामिक समिद्ध-प्रत्यभि-प्रवरा-
में) आहुत होती है (यह है आम्याहुति का स्वरूप जिनम जानों ओर म
आम्य का सम्बन्ध हो रहा है)।

लेफ़ तुटियाँ करता है (करै), परन्तु निश्चयेन (तुटि करता हुआ भी) वह
कस्मिन् से पारिर् नहीं जाता, जो कि आग्य के इस प्राम्यापत्त्यानुगत स्वस्वरूप
ने वाक्या है ॥ २१ ॥

इति-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः

—६—

छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा वाक्य

(११६११)—(११४१६१)

चतुर्थप्रपाठक समाप्त

३ त्रिब्राह्मणात्मक प्रयागवाक्य में क्रमपात तृतीय वाक्य समाप्त

३

—●—

(मूलानुवाद समाप्त—ग)

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयागवाक्य' समाप्त

क्रमपात— २३—२४ वाक्य समाप्त

चौतुससूत्रवाक्ये नमः

—६—

आप्यु के द्वारा आन्यमित आमाहुत, यजमानमिमिता बन कर ही (अग्नि में) आहुत होती है। (ता-पर्य्य यही हुआ कि, आग्याहुति प्राजापत्या बनेगी हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होती है। आग्य यजमानात्मक है, यजमान का प्राण आग्य में समाविष्ट है साथ ही यजमान अपने यह की अपेक्षा से प्रजापति भी है। आग्य एक प्रकार से यजमानात्मा है। इस प्रकार आग्य परम्परया यजमानात्मा भी प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गाध्यामि का अनुगामी बन जाता है। और आमाहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वर्ग पहुँच जाता है? किंवा आग्याहुति कैसा स्वर्ग प्रापिक बन जाती है?, किंवा प्रयाज जैसे ऋषय-प्राज्ञ कर्मों से स्वर्गप्राप्ति कैसे सम्भव है?, इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्पूर्ण उत्तर विमर्ग हो जाता है)।

(अब इसी आमाहुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर देते हैं इस प्रयोजनकरण को समाप्त कर रही हैं। आग्य साक्षात् यजमान है। आग्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ, किंवा यह के साथ युक्त हो जाता है। अतएव हम अपने आग्य स्वरूपा/नुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि, वह आहुतिकाल में अश्विनियों के पास रहे ही रहे। क्योंकि आग्यसाक्षिण्य से ही यजमानज्ञानिण्य स्थापन हो रहा है। इसके अतिरिक्त यदि ध्यावेत् यजमान से स्वाभाविक मातृपुत्र-भाव द्वारा कोई असत्कर्म भी हो जाता है, तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आग्यरूप में उसकी यज्ञसामानुगति अङ्गुण है। इसी भाव का-प्रामाणिक फल है -अपने शस्त्रों में अभिनय करती हुई भुक्ति करती है) —

यदि हम यजमान के दूर चले जाने पर अश्विन्यु व्रजन करता है, अथवा समीप रहने पर व्रजन करता है, करे, कोई अन्तर नहीं होता, कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर (साक्षिण्य से-अश्विन्य के द्वारा यजमान के लिए यह कर्म) इष्ट-इष्टजनक-सफल-व्यवस्था है, यथमेव अर्थ-विन्द- (आग्यरहस्यविद्) हम यजमान के विदूर रहने पर भी अश्विन्यु-द्वारा फल यह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही भले ही वह (स्वाभाविक मातृपुत्रोपपत्ति)

